कुम्भ-संस्करण

* ओ३म् *

वैदिकाश्रम-ग्रन्थ-माला संख्या ३

वेद-सन्देश

द्वितीय भाग

(मानस-सन्देश)

अर्थात्

अन्तःकरण के स्वरूप, बल तथा सदुपयोग का कथाके रूपमें पूर्ण वर्णन।

लेखक

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, एम.ए.एम.ओ.एल.

आचार्य

दयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय, लाहौर।

पं० देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर ने

श्रीमती प्रबन्धकर्त्री-सभा, डी.ए.वी. कालेज लाहौर

के लिये प्रकाशित किया।

प्रथमवार २००० | दयानन्दाब्द १०३ | मूल्य १) सादा, „ १।) सुनहरी जिल्द

'हिन्दी प्रैस'

रेलवेरोड,

लाहौर।

समर्पणम्

सत्यप्रियो यतिवरो विमलस्तपस्वी,
कुम्भे पयोधिनयनग्रहचन्द्रवर्षे ।
मन्दाकिनीतटभुवि प्रणिखातवान् यः,
पाखण्डखण्डनविधानभयं पताकाम् ॥ १ ॥
श्रौतैकमाननिपुणैरुपपत्तितीव्रै-
राभासयन् निगमनैर्विविधप्रमाणैः ।
मिथ्याविचारजटिलान् बहुवादिवादान्,
वेदाख्यलोकजननीमुददीधरच्च ॥ २ ॥
श्रुतिप्रणीत्या सुवितानकीर्त्ते-
र्जनोपकृत्या प्रगतिं गतस्य ।
गुरोर्दयानन्दमुनेः प्रियः स्या-
ल्लघूपहारः शिशुना कृतोऽयम् ॥ ३ ॥

समर्पण

कहां वेदका अतिगहन, गंभीर, अथाह सागर और कहां मुझ सरीखा, निःसाधन, निर्बल नाविक! अपनी अशक्तिका विचार करता हुआ आश्चर्य करता हूं कि मेरी यह कठिन यात्रा क्योंकर पूरी होगी! हां, निराशा-घनाच्छादित, मेरे मानसिक नभोमण्डलमें भगवान् दयानन्दद्वारा प्रदर्शित प्रकाशकी झलक है। यही मेरा बल है और यही मेरा सहारा है। उसी अखण्ड ब्रह्मचारी, कठिनव्रतधारी, जनोपकारी, वैदिकधर्मधुरंधर, विद्वन्मण्डलमण्डन, महामुनिके उत्साहसे उत्साहित होकर, मैं इस दुर्गम, दुस्तर यात्रापर निकल पड़ा हूं। उस सच्चे गुरुने सँ० १९२४ के हरद्वार-कुंभके पर्वपर पाखण्डखण्डनीपताका गाड़कर, वैदिकधर्म-पुनरुद्धारके पवित्र संकल्पको धारण किया था। उस महत्त्वपूर्ण घटनाके उपलक्ष्यमें यह लघु उपहार ऋषि-चरणोंमें सादर समर्पित है।

विश्वबन्धुः

प्रस्तावना

१. वेदसन्देशके प्रथम भागके अन्तमें यह लिखा गया था कि अन्तःकरणकी शुद्धि आदि विषयोंपर आगे लिखा जावेगा। परन्तु इस अन्तरमें कई प्रकारके कार्य्योंमें लगे रहनेके कारण, इससे पूर्व इस मानसिक भावनाको कार्यरूपमें लाना संभव नहीं होसका। अब भी जिस अवस्थामें यह भाग जनताके सामने उपस्थित है, यह अनेक बातोंमें संशोधनकी अपेक्षा करता है। शारीरिक अस्वास्थ्यमें इसका आरंभ किया गया और उसी दशामें इसे समाप्त करना पड़ा है। हरद्वार-कुम्भके उपलक्ष्यमें यह लिखा गया है और उस पर्वका समीप होना ही इस शीघ्रताका मुख्य कारण है।

२. रचना-क्रमके अनुसार इस भागमें दो अध्याय रखनेका विचार था। परन्तु मानसाध्यायका अधिक विस्तार होजानेके कारण, इसे ही यहां पूर्णरूपसे देना उचित समझा गया है। विषयको सुगम करनेकेलिये उल्लासोंके अन्दर खण्डोंकी कल्पना और बढ़ा दी गयी है। स्वाध्यायशील सज्जनोंको इससे अधिक लाभ होगा। विषयों तथा प्रमाणोंकी सूचियां मालाके अन्य ग्रन्थोंकी तरह, यहां भी लगा दीगयी हैं। आशा है, आर्यपाठक-वर्ग वेदसन्देशके इस भागको भी पूर्ववत् अपनाकर, तीसरा भाग लिखनेकेलिये उत्साहित करेंगे। उसमें वैदिक ईश्वर-भक्तिका वर्णन होगा। अनुभवी विद्वानोंसे प्रार्थना है कि जो त्रुटियां रह गयी हों, उनकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित करके, मुझे अपना आभारी बनावें। पं० भीमदेवजी शास्त्री एम. ए. एम. ओ. एल ने सूचियां तय्यार की हैं, और शुद्ध प्रकाशनका श्रेय पं० देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्करको है।

वैदिकाश्रम, लाहौर
महाशिवरात्रि, १९८३ 77 / 26

विश्वबन्धुः

विषयानुक्रमणिका

—:-०-:—

मंत्रोंकी अकारादि क्रमसे सूची ।

अकारादिक्रमसे विषयसूची ।

वैदिकाश्रम ग्रन्थमाला लाहौर

अथान्तःकरणनिरूपणो नाम

प्रथम उच्छ्वासः ।

* ओ३म् *

प्रथम खण्ड

ग्रन्थारंभनिर्देश ।

नत्वा कोटिशो देवं भुवनेशं दयानिधिम् ।
पुण्यो रच्यते ग्रन्थो वेदसन्देशनामकः ॥ १ ॥

अर्थ—भगवन् ! आप प्रकाशस्वरूप ब्रह्माण्डके पति दयाके भण्डारको वारंवार नमस्कार करके पुण्य वेदसन्देश नाम वाले ग्रन्थको रचता हूं । आप हीकी दयासे यह प्रयत्न सफल हो ॥ १ ॥

सन्देशौ तनुतत्त्ववर्णनपरावादौ हि भागे गतौ,
निर्मास्येऽथ विभो ! तवैव कृपया भागं द्वितीयं शुभम् ।
पावित्र्यामृतवर्षणेन खलु यः कुर्वंश्च पुण्योदयम्,
अन्तर्नेत्रनिरूपणेन सफलो भूयात् सतां प्रीतये ॥ २ ॥

अर्थ—हे विभो ! प्रथम भागमें आत्मतत्त्व तथा शरीरका वर्णन करके, अब तेरी कृपासे दूसरा भाग आरंभ करता हूं । भगवन् ! दयादृष्टि करो ताकि अन्तःकरणके निरूपणद्वारा, जगत्में पवित्रताके अमृतकी वृष्टि करता हुआ, यह ग्रन्थ पुण्यका विकास करे और सज्जनोंके प्रेमका पात्र बनारहे ॥ २ ॥

मानसी प्रार्थना।

संसारेऽतिविचित्रचिते दुष्टश्रेष्ठविभागयुते ।
दुःखं हर्त्तुमयीश हरे ! मह्यं देहि बलं सुखदम् ॥ १ ॥

अर्थ—भगवन्, संसार अति विचित्र है। दुष्ट तथा श्रेष्ठका अद्भुत विभाग पाया जाता है। हे हरे ! मुझे दुःख-नाशक, सुख-दायक बल प्रदान करो, ताकि मैं अपनी मंगल-कामनाओंको पूरा कर सकूं ॥ १ ॥

चित्तक्लेशकरं सकलं दौर्बल्यं मनसश्च मलम् ।
हीनाचारविचारदलं, किं हर्त्तुं न हरे त्वमलम् ॥ २ ॥

अर्थ—महाराज, मेरी दुर्बलता और मनकी मलिनता मेरे चित्तको क्लेश देती हैं। हरे ! हीन आचार तथा विचारके वैरि-दलको क्या आप हटा नहीं सकते ? ॥ २ ॥

ज्ञात्वाप्यंग विभो हृदयं व्यामूढं मम चापि चलम् ।
मिथ्याचेन्न तवास्ति दया, तत् किम्मां न हरे दयसे ॥३॥

अर्थ—हे प्यारे प्रभो ! आप जानते हो, मेरा हृदय कितना चंचल और विक्षेप-ग्रस्त है। भगवन्, आपकी दयालुता सच्ची है। मेरे ऊपर भी अवश्य दया कीजिये ॥ ३ ॥

बाधन्ते भवसागरपा नानापापरुजानिवहाः ।
त्राणं धेहि वचः शृणु मे त्वं राजन् जगदीश हरे ॥४॥

अर्थ—हे भवसागरमें रक्षा करने वाले, नाना प्रकारके पाप और रोग पीड़ा दे रहे हैं। रक्षा करो। हे राजन्, जगदीश, हरे, मेरी टेर सुनो ॥ ४ ॥

बाह्यो वा यदि वान्तरिकः स्यात्तापो मम तात हरे।
वेदार्थेन विचारजुषो मूलं नाशय तस्य गुरोः ॥ ५ ॥

अर्थ—हे पितः, मुझे अन्दर और बाहिर ताप तपा रहा है। हे सच्चे गुरो, कृपा करो कि मैं वेद मन्त्रोंके अर्थोंके विचार तथा मननसे सारे सन्तापके मूलको नाश कर सकूं ॥ ५ ॥

आनन्दामृतपुञ्ज न किम्मत्तापोपशमं कुरुषे।
पुत्रे दुःखमथोपगते दृष्टो नैव पिता सुखयुक् ॥६॥

अर्थ—हे आनन्दामृतके पुंज, मेरा ताप क्यों नहीं हरते हो? ऐसा तो पिता कभी नहीं देखा कि जो पुत्रको दुःखी देखता हुआ भी अपने आनन्दमें निमग्न रहे ॥ ६ ॥

ज्योतींष्यादद्ते सततं त्वत्तो भासमथापि हरे!
चैत्तं मे न तमस्तदये नाशं याति तदापि कथम् ॥ ७ ॥

अर्थ—हे हरे! सब सूर्य और तारे तुम्हींसे प्रकाश धारण कर रहे हैं। पर कितने दुःखकी बात है कि मेरे चित्तका अन्धेरा नष्ट नहीं होता। भगवन्, कृपा करो, कृपा करो। प्रकाश हो, प्रकाश हो। पापका नाश हो। पुण्यका उदय हो। भगवन्, सच्ची भावनाएं पैदा हों। कुटिल वासनाएं शान्त हों॥७॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

द्वितीय खण्ड।

मथुरा शताब्दीका नायक।

महात्माजीकी कुटियाका द्वार लगभग एक मास बन्द रहा। मायाराम तथा उसके साथियोंके जीवनमें अद्भुत पलटा

देखकर, सारा नगर महाराजका गुणानुरागी तथा भक्त बन चुका था। वे एकान्तसे प्यार करते थे, परन्तु यह भी चाहते थे कि शरीरको उपकारमें ही लगाये रखें। द्वारका खुलना था और लोग दर्शनोंको आने लग गये। सांझका समय तो विशेष भीड़का समय था। उन्होंने सब प्रेमियोंके प्रेम-भरे भावका स्वागत किया और मुसकराते हुए बोले।

महा०—सुनाओ, सज्जनो, क्या समाचार है? पिछला मास कैसे बीता है?

वस्तु०—भगवन्! सब कुशल है। हृदयमें वियोगकी तीव्र ज्वाला भड़क रही थी। आपके दर्शन पाकर ऐसे प्रतीत होरहा है कि अमृतपान करके शान्ति लाभ कर रहे हैं। शताब्दी महोत्सवकी यात्रा कैसी रही?

माया०—सुना है, मथुराके बाहिर दूसरी मथुरा बस रही थी। प्रान्त २ से लोग गये हुए थे। बड़े २ बाज़ार और चौक बने हुए थे। भीड़का क्या ठिकाना था? कहते हैं, कई मील लंबा जलूस निकला। महाराज, क्या यह सत्य है?

महा०—ठीक है। उस सप्ताहमें तो यह प्रतीत होता था कि सारा जगत् आर्य बन कर, अपने गुरु, महर्षि दयानन्द-सरस्वतीकी पवित्र स्मृतिको अपने हृदय-मन्दिरमें जागृत करनेके लिये वहां आ पहुंचा है। सब लोग ब्राह्म मुहूर्त्तमें उठ पड़ते थे। प्रातःकालसे लेकर आधी रात तक चहल पहल लगी रहती थी। भजन-कीर्त्तन और यज्ञोंका क्या आनन्द बना हुआ था! बड़ा मण्डप और उसके चारों ओर दूसरे मण्डप जनतासे खचाखच भरे रहते थे। कहीं साधु, महात्मा प्रचार कर रहे थे,

कहीं परिडत-परिषद् लग रही थे और कहीं अन्य सभाएं होरही थीं। कालेजों, महाविद्यालयों और गुरुकुलोंकी विभूति भी पूरा पूरा प्रकाश कर रही थी।

अन्त०—महाराज, इतने बड़े समारोहका मूल रहस्य क्या था? वह क्या शक्ति थी जो इतने लोगोंको देश, विदेशसे घसीट कर वहां ले गई?

महा०—क्यों, सत्यकाम, बोलो।

सत्य०—भगवन्, यह एक निरालाही मेला था। दूसरी यात्राओंमें कोई मन्दिर, कोई नदी-तट, कोई गुफा, कोई पर्वत या कोई अन्य स्थान लक्ष्य होता है। परन्तु यहां सहस्रों नर, नारी भौतिक लक्ष्यके आकर्षणके विना ही पहुंचे। इस वायुमें कोई शक्ति थी। यहां कुछ अनूठा प्रभाव था। न यह यमुनाका प्रेम था, न यह व्रजके मन्दिरोंका सौन्दर्य था और न यह किसी कुटिया या भवनका चित्र था, जो इतनी जनताको वहां खैंच ले गया। सहस्रों लोगोंने न नदीमें स्नान किया, न मन्दिर देखे और न कुटियाएं ढूंढीं। महाराज, यहां तक तो मैं स्पष्ट देख रहा हूं। इसके आगे अभी कुछ और प्रेरणा सी प्रतीत होती है, परन्तु वह क्या है, यह कह नहीं सकता।

महा०—सत्य है। शताब्दी-यात्रामें कोई भौतिक प्रेरणा न थी। यह मानसिक विचारका आकर्षण था। यह एक मनुष्यको दूसरे मनुष्यसे विशिष्ट बनाता है। स्वामी दयानन्दजी महाराजका शरीर अति सुडौल और सुन्दर था। परन्तु उस विशाल कायाके प्रतापसे खिचे हुए लोग मथुरा नहीं पहुंचे। जनता उनके विचारोंकी पूजा करती हुई उन्हें अपना गुरु मान चुकी है।

अतः स्वामीजीके नामकी जब पूजा होती है, तो समझो कि उनके ऊंचे भावों और शुद्ध विचारोंकी पूजा होती है । प्रभु ने प्रत्येक शरीरके अन्दर एक सूक्ष्म अन्तःकरणकी रचनाकी है । इसके द्वारा हम अपने अन्दर विचार पैदा करते, संकल्प विकल्प उठाते, भिन्न २ पक्षोंके सत्यासत्यका निर्णय करते, भूतकी बातोंका कोषकी भान्ति संग्रह करते, भविष्यत्के कार्यक्रम बनाते और अन्दरही अन्दर सहस्रों आशाओंके पुल बांधते और तोड़ते हैं। नेत्र, श्रोत्र, नाक आदि बाहिरके करण हैं। हम सारे जगत्का अनुभव पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देखने, सुनने, सूंघने, चखने और छूनेसे प्राप्त करते हैं। जिनके नेत्र नहीं, मानो उनकेलिये जगत्का पांचवां भाग नहीं रहता। उन्हें रंग बिरंगके फूल, फल, लता, गुल्म, पर्वतीय दृश्य, नदियों तथा निर्झरोंके मनोहर स्रोत, प्राकृतिक तथा कृत्रिम सुन्दर आकार, विशाल भवन और महल वैसे आकर्षित नहीं करते जैसे कि वे आंखोंवालोंको सहस्रों कोसोंसे खींच लाते हैं। अतः बाहिरकी इन्द्रियोंका शक्तिशाली होना जीवनके आनन्दकी पूर्णताकेलिये अत्यावश्यक है । ज्ञानेन्द्रियोंके साथ हाथ, पांव आदि कर्मेन्द्रियां भी हैं।

नेत्र आदिके द्वारा बाहिरका जगत् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दके रूपमें हमारे अन्दर प्रतिबिंबित होरहा है । हम इससे दो प्रकारसे प्रभावित होते हैं। एक अवस्थामें प्रतिबिंब मनोहर प्रतीत होता है और बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है । दूसरी अवस्थामें प्रतिबिंबकी भयानकता बाह्य पदार्थोंमें अरुचि कर देती है । इस तरह प्रत्येक प्राणीके सामने ग्राह्य और त्याज्य संसार बनता चला जाता है।

जिनके शरीर पुष्ट हैं, इन्द्रियां बलिष्ठ हैं, वे अपने पुरुषार्थसे ग्राह्य का ग्रहण तथा त्याज्यका त्याग कर सकते हैं। दूसरे निर्बल प्राणी यहां नाना प्रकारके कष्ट पाते हैं। सुन्दर प्रतिबिंब देखकर जी करता है कि अमुक वस्तु ले लें। परन्तु न पांव चलते हैं, न हाथ हिलते हैं। न पुरुषार्थ होता है, न धन आता है। पुरुषार्थके विना कोई भी पदार्थ प्राप्त नहीं होता। पामर, पंगु, अपाहज, निहत्थे बनकर जीवन व्यतीत करना सचमुच नरकमें निवास करना है।

लोक०—ठीक है, ठीक है। तभी तो आपने मथुरा जानेसे पूर्व शरीर के रक्षणके विषयमें वेद भगवान् का परम परम् पावन सन्देश सुनाया था।*

महा०—परन्तु प्यारो, जीवनकी पूर्णता अन्तःकरणकी पूर्णतापर निर्भर समझो। शताब्दी-महोत्सवकी सफलता पूर्ण अन्तःकरणके स्वामी, महर्षि दयानन्दजीकी विजय घोषणा है। मनुष्य शारीरिक बलसे मोहित होता है और प्रभुने महाराज दयानन्दको वह भी पर्याप्त दे रखा था। परन्तु मनुष्यकी वास्तव पूजा उसके आन्तरिक चमत्कारोंसे होती है। और स्वामी जीका जीवन इस सुन्दरताका भी बढ़ चढ़कर धनी था। शरीरको उन्नत न करना पाप है क्योंकि इस कार्यको करना तो पशु भी जानते हैं। मनुष्यका मुख्य लक्ष्य मानसिक तथा वैज्ञानिक विकास ही समझना चाहिए। इसी विकासकेद्वारा ही वह पशु-पनसे ऊपर उठता है। मनुष्योंमें जो व्यक्ति इस विषयमें विशेष रूपसे बढ़ जाता है, वह जनताका पूज्य गुरू तथा नेता गिना

---

* वेद-सन्देश, प्रथम भाग के द्वितीय अध्याय की ओर संकेत है।

जाता है। महाराज दयानन्दके जीवनकी पवित्रता, संकल्पकी दृढ़ता, विचारकी विशालता, चित्तकी उदारता, विश्वासकी स्थिरता आदि अनेक गुण उनके अन्तःकरणकी विभूति तथा महिमाका प्रकाश करते हैं। इसी लिये संसार शनैः २ उनके जीवनसे परिचित होकर उनके चरणोंमें श्रद्धासे पूर्ण होकर झुकता चला जाता है।

सत्य०—महाराज, अब सारी बात ठीक २ खुल गयी । शताब्दी महोत्सवका रहस्य समझमें आगया है । यह सारी अन्तःकरणकी ही महिमा है।

वस्तु०—भगवन्, अब आप विश्राम करें । यात्राके कारण थकावट होरही होगी?

माया०—महाराज, कोई सेवा हो, तो बतावें, ताकि हम भी कृतार्थ हो सकें।

महा०—नहीं, सब ठीक है। समय पर आजाया करें। कलसे पहिलेकी तरह प्रतिदिन शास्त्र-चर्चा हुआ करेगी। अब जाइए नमस्ते २।

सत्य०—पानी गर्म होकर आगया है। हाथ पांव धो लीजिए।

महा०—बहुत अच्छा।

तृतीय खण्ड

अन्तःकरणका स्वरूप

लो०—महाराज, कल जबसे मैं यहांसे गया हूं, यही सोचता रहा हूं कि जिस अन्तःकरणके विकासका आप वर्णन करते रहे

हैं, वह क्या है। सच तो यह है कि मुझे तो उसके होनेका भी निश्चय नहीं।

महा०—तो, पहिले यही विचार लेना चाहिये।

माया०—आपकी अनुमति हो; तो मैं इस विषयमें कुछ कहूं।

महा०—(प्रसन्न होकर) बहुत अच्छा! आप भी तो सारी आयु वेदांत सुनते रहे हो। अवश्य कहियेगा।

माया०—महाशय जी, अधिक सूक्ष्म जानेसे क्या? सब इन्द्रियद्वार खुले होनेपर भी एक समयमें एक ही प्रकारका संस्कार-ज्ञान होता है।

लोक०—कृपया खोल २ कर स्पष्ट कहियेगा। मेरेलिये विषय नया है।

माया०—बहुत अच्छा देखिये। आप कई वार अपने कार्यमें इतने लगे हुए होते हैं कि आपको अपने आस पास आते जाते लोगोंका कुछ पता नहीं रहता। यदि उस समय कोई किसीके विषयमें आपसे कुछ पूछता है; तो आपकी कोरी आंखें उसे सूखा उत्तर सुना देती हैं। यहां तक होजाता है कि मोटर आदिका शब्द भी सुनाई नहीं पड़ता। तनिक विचार तो करें कि इसका क्या कारण है।

लोक०—हां होता तो अवश्य है। पर मैंने कभी इधर ध्यान नहीं दिया। शायद श्रोत्र उस समय काम न करते हों।

माया०—नहीं, यह ठीक नहीं। वायुमें शब्दकी लहरें चलती रहती हैं। जहां कान खुले होंगे, वहां उनका अवश्य प्रभाव पड़ेगा। हां, जब सीसेसे उन्हें पूर दिया जावे या और कोई रोग आदि हो जावे तो दूसरी बात है।

लोक०—यह हो सकता है, कि आत्मा एक समयमें एक ही प्रकारका ज्ञान ग्रहण करना चाहता हो।

माया०—बधाई हो। यह आत्मवादी कबसे बने ?

लोक०—भाई, ठीक २ उत्तर दो। उपहास क्यों करतेहो ? जिन गुरुवरोंकी दयादृष्टिने तुम्हें मायावादके अन्धेरे कुएंसे बाहिर निकाला है, उन्हींके उपदेशोंसे मैं भी निहाल हो रहा हूं। अब मैं अपने आपको नित्य तत्त्व समझता हूं। मैं शरीर नहीं हूं।

माया०—बड़ी प्रसन्नताकी बात है। क्षमा करना, मैंने चित्त दुखानेकेलिये उपहास नहीं किया था। अच्छा, सुनिये। आत्माकी शक्ति तथा सत्ता सकल देह को प्रभावित कर रही होती है। देखनेकी शक्तिसे रहित नेत्रोंमें भी झपकना आत्माकी शक्तिका परिचय देता रहता है। अब काले, पीले रंगोंके संस्कार अन्दर नहीं जाते। परन्तु तनिक कोई वस्तु चुभे, तो उसी समय स्पर्शका संस्कार अन्दर चला जाता है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि आत्मा समान रूपसे सब इन्द्रियोंके संस्कार ग्रहण करनेकेलिये तय्यार रहता है। ज्ञान उसका धर्म है और सदा बीज रूपसे उसमें विद्यमान रहता हैं। बाहिरके संस्कारों-केलिये उसे बाहिरकी इन्द्रियोंको साधन बनाना पड़ता है। इस लिये वह कठिनाई बनी रहेगी। अनेक द्वार खुले हों, फिर क्यों विशेष ज्ञान एक ही द्वारसे किसी समय अन्दर प्रवेश करता है ?

लोक०—संसारमें ऐसे भी तो मनुष्य होते हैं जो एक साथ कई कार्य कर लेते हैं। वे पुस्तक पढ़ते, बातें सुनते और करते और दूर से घड़ियालके शब्दोंको गिनते भी रहते हैं। इन भिन्न

भिन्न बातोंके संस्कारोंको आत्मा एक साथ ग्रहण करता जाता है। इस लिये आपका सारा कथन ही कच्चा पड़ जाता है।

महा०—न लोकेश जी, यह ठीक नहीं। आपने पहिले ठीक प्रकारसे आरम्भ किया था। मायारामजी, आपने शास्त्रोंका अच्छा मनन किया है। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है।

माया०—आपकी कृपादृष्टि ऐसी ही बनी रही, तो मैं भी एक दिन ऋषियोंके सामने मुंह दिखा सकूंगा। भगवन्, कुछ कालसे नित्य स्वाध्यायका मैंने व्रत धारण कर रखा है। भोजन तो न हो, पर इस नियममें विघ्न नहीं हो सकता। संस्कृत नहीं जानता, इस लिये उतना लाभ तो नहीं उठा सकता। पर, हां, आर्य विद्वानोंने बड़ा उपकार किया है। उनके भाष्यों तथा अनुवादोंने बड़ा सहारा दिया है।

वस्तु०—और, वहां क्या करते हो, जहां एक पण्डित कुछ अर्थ करता है और दूसरा कुछ ?

माया०—हां, यह बात तो ठीक है। पर मैंने अभी आरम्भ ही किया है। जब ऐसी समस्या आवेगी, प्रभु अपनी कृपासे कोई (महात्माजीकी ओर संकेत करके) आप्त गुरु भी मिलाही देंगे।

महा०—नहीं २, वस्तुस्वरूप, घबरानेकी कोई बात नहीं। शास्त्रका एक बड़ा भाग ऐसा है, जिसके अर्थोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता। निरन्तर अभ्यासी शास्त्रोंके साधारण भावको स्वयं भी भांप लेता है। फिर वार्तालाप तथा श्रवणसे भी कई गांठें खुलती हैं। जो पढ़ता ही नहीं, वह विद्वानोंके पास पहुंचकरभी कोई प्रश्न नहीं कर सकता। पढ़नेसे शंकाएं

उत्पन्न होती हैं और अधिक जाननेकेलिये मन तय्यार होजाता है। सबको चाहिये कि इसी तरह संस्कृत अथवा आर्य भाषाको सीखें और स्वाध्यायका नियम धारण करें। यह विद्या तथा शास्त्रोंके प्रचारका उत्तम उपाय है। मायारामजी, बहुत अच्छा प्रयत्न है। क्यों, लोकेशजी, आपका प्रश्न ठीक हुआ, कि नहीं ?

लोक०—कुच्छ होगया, कुच्छ आपकी कृपासे होजावेगा।

महा०—बड़ा मोटा उदाहरण है, परन्तु इससे आप समझ जावेंगे कि कैसे एक साथ अनेक ज्ञान नहीं हो सकते। यह लो, इस पुस्तकके चार पत्रोंको इकट्ठा पकड़ो और एक ओरसे सुई मारो। झट, दूसरी ओरसे उसका सिरा निकल आता है। सुईके मारने और उसके आर पार निकल जानेमें कोई समयका अन्तर प्रतीत नहीं होता। परन्तु थोड़ा सा विचार इस प्रतीति को झुठलानेकेलिये पर्याप्त होगा।

देखो, चारों पत्रोंके मध्यमें तीन अन्तर हैं। चाहे दो पत्रोंपर कितना भी भार डालो, वे एकजान नहीं बन सकते। दो परमाणुओंके बीचमें भी अन्तर रह जाता है। यह अन्तर छोटेसे छोटा भी क्यों न हो, सुईको उसमेंसे पार होनेकेलिये कुच्छ समय तो चाहिये ही। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे अन्तरमेंसे निकलते हुए सुई कुच्छ न कुच्छ समय लेगी। यह समय थोड़ा हो या बहुत हो, है तो सही। एक पग धरनेमें एक पल लगता है और योजन भर चलनेमें दो घड़ी समय बीत जाता है। दो घड़ीके सामने पल क्या है? फिर भी वह अभावरूप नहीं गिना जाता। जिस प्रकार इन उदाहरणोंमें समय होता हुआ भी प्रतीत नहीं होता, ऐसेही

अति सूक्ष्म मन आनकी आनमें नेत्र आदि इन्द्रियोंसे जुड़ता और अलग हो जाता है। प्रतिक्षण ऐसा हो रहा है। कुच्छ मनुष्योंमें दूसरोंकी अपेक्षा इस जोड़ तोड़का अभ्यास अधिक पाया जाता है। हमें ऐसे प्रतीत होता है कि मानो, वे नेत्र, कान तथा वाणी आदिसे एकही समयमें कार्य कर रहे हैं। परन्तु वस्तुतः सुईके तीन अन्तरोंमेंसे एक साथ पार निकल जानेके समान इसे भी असंभव जानो।

लोक०—यहतो खूब समझ लिया। तनिक और विस्तार करिये।

महा०—बस, अब अन्तःकरणके माननेमें क्या कसर रही? नहीं तो यह समझमें नहीं आता कि क्यों आत्मा, इन्द्रिय और संसारके परस्पर जुड़े रहनेपर भी, कभी केवल रूपका और कभी शब्दका हमें ज्ञान हो। यदि ज्ञानके होनेमें यह तीनही कारण हैं, तो या तो सदा प्रत्येक प्रकारका ज्ञान बना रहना चाहिये और या कोई भी ज्ञान न होना चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं। अतः या तो झट आत्मामें कोई निर्बलता होजाती है, या नेत्र आदि इन्द्रियोंमें विघ्न खड़ाहो जाता है। यह भी असंभव है। क्योंकि आत्मा नित्य, विकार रहित तत्त्व है और नेत्र आदिका भी अचानक ठीक न रहना और झट पीछे ठीक होजाना असंगतसा प्रतीत होता है। इस लिये ऋषियोंने आत्मा तथा इन्द्रियोंके बीचमें एक और माध्यम (Medium) माना है। इसीके जोड़ तोड़से ज्ञानकी उत्पत्ति और अनुत्पत्ति होती रहती है।

अन्त०—हमारे सम्प्रदायमें तो इसे ही सब संस्कारों का आधार माना है । बाहिरका जगत् तो इसकी छायामात्र समझी जाती है ।

सत्य०—तो क्या वह पुरानी चर्चा चलाने लगे हो ?

अन्त०—नहीं २ मनकी महिमाका केवल संकेत किया है ।

लोक०—भगवन्, बड़ा सूक्ष्म विषय है । समझ तो आगया है । पर आज इतना ही रहने दीजिए ।

माया०—महाराज, बहुत दिन होचुके हैं । आज आपके साथ मिलकर सन्ध्या करके जावेंगे ।

सत्यकाम पानी ले आया । सबने हाथ पांव धोकर आचमन और इन्द्रिय-स्पर्श की विधि की और महात्माजीके साथ मधुर स्वरसे मंत्रोंका उच्चारण किया । तारे निकल चुके थे । सबने महात्माजीको और परस्पर नमस्ते की और अपने २ घरोंको चले गये ।

चतुर्थखण्ड ।

मानसिक जगत् ।

वस्तु०—भगवन्, बाहिरके ज्ञानके संबंधमें तो अन्तःकरणकी आवश्यकता खूब समझली । अब कृपया इसके आन्तरिक स्वरूपको भी समझा दें ।

सत्य०—महाराज, अभी सोचते २ मेरे मनमें भी एक शंकासी उठ रही है ।

महा०—वास्तवमें विषय बड़ा सूक्ष्म है । मनका साक्षात्कार

किसी २ योगयुक्त महात्माकोही प्राप्त होता है। हां, कहिये, आपका सन्देह क्या है?

सत्य०—महाराज, आपने एक बार बतलाया था कि आत्माका निवास हृदयमें होता है। इस लिये यह नहीं होसकता कि वह नेत्र आदिके साथ वारी २ से संयुक्त होता हो।

महा०—प्यारे, उस प्रकरण * का फिर विचार करो। वेदादि सच्छास्त्रोंमें आत्म-ज्योतिका केन्द्र हृदयको माना है। जैसे कमरेमें चमकते हुए दीपककी शिखापर विशेष प्रकाश होते हुए भी, सारा कमरा साधारणतया प्रकाशित होता है, ऐसेही हृदयमें आत्मा विशेष प्रकाश करते हुए भी, चैतन्यगुणके द्वारा सारे शरीरको नखाग्र पर्यन्त जीवन देरहा है †। योगी महात्मा प्रकाशके केन्द्रपर पहुंचनेका यत्न करते हैं। साधारण जनता साधारण जीवन-शक्तिसे ही अपना व्यवहार चलाती है।

इसलिये आत्म-ज्योतिका नेत्र आदिसे वारी २ से संयोग मानना ठीक न होगा। इसकी किरणें सारे शरीरमें संचार करती हुई स्थान २ का समाचार आत्मा तक पहुंचाती हैं। देखो, एक दृष्टान्तसे पता लग जावेगा। एक अध्यापक पढ़ा रहा था। विद्यार्थी ध्यानसे सुन रहा था। आंखें खुली थीं, कान लग रहे थे। अचानक उसके पांवकी अंगुलीपर चींटीने काटा। खाज हुई। हाथ हिलने लगे। आंखें पुस्तकपर और कान अध्यापकके शब्दपर हैं। अध्यापक झट प्रश्न कर देता है। लड़का

* देखो, वेदसन्देश प्रथमभाग, अ० १, उ० १, मन्त्र ३-५ की व्याख्या।
† कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ४। १९॥

घबरा जाता है। उत्तर नहीं दे सकता। पहिले वाक्य तो समाप्त हो चुका है, परन्तु खाजके समय वाला वाक्य उसके ध्यानमें नहीं आता। पहिले आत्म-प्रकाशकी किरणें और मन पाठमें लगे हुए थे। अब अकस्मात् मन खाजके केन्द्रकी ओर भागा हुआ है। आत्म-प्रकाश तो दोनों समय था, पर मन अब नहीं रहा। इस लिये शिष्य बाधित होकर मानता है कि "गुरुजी, मेरा मन क्षण भर खाज करनेमें लग गया था। कृपया फिर पढ़ाइए"*।

सत्य०—सत्य है महाराज, विषयकी गंभीरता भुलाए डालती है। अब, वस्तुस्वरूपजीके प्रश्नकी ओर ध्यान कीजिएगा।

महा०—बेटा, बाहिर और अन्दर, दोनों जगतोंमें मनकी आवश्यकता है। सुनो, एक आप-बीती वार्त्ता सुनाता हूं।

कुच्छ दिन हुए, एक नवयुवक मिलनेको आया। उसने बड़े प्रेमसे नमस्ते की। मैंने भी उसका स्वागत किया। घण्टा भर वह मेरे साथ अपनी पढ़ाई आदिके विषयमें बातें करता रहा। मैं यह सारा समय यत्न करता रहा कि उसका नाम तथा परिचय मेरी स्मृतिमें आवे, पर क्या कहूं, मुझे न ही पता चला। उसकी आंखें परिचित थीं, उसकी आकृति परिचित थी पर, तो भी उस समय मैं उसे पहचान न सका। सामने देख रहा था परन्तु बीते हुए समयका प्रत्यक्ष अब साथ मिलता न था। दूसरे दिन एक और महाशयने ज्योंही उसका नाम लेकर कुच्छ पूछा,

---

* विस्तारके लिये देखो बृ० उ० १।५।३॥ बड़ा सुन्दर और सरल वर्णन है।

तो बस, झट तीन वर्ष पहिलेकी सारी स्थिति सामने आगयी। भूत और वर्त्तमान प्रत्यक्ष मिल गये और पूरा ज्ञान होगया।

अब सोचो कि आत्मा जैसा तीन वर्ष पूर्व था, वैसाही अबभी है। उसमें कोई भेद नहीं हुआ, तो क्या कारण है कि उस लड़केको पहचानता हुआ भी, मैं न पहचान सका। इस लंबे कालमें उसका कोई संबंध न रहा था। नये संबधोंसे नये संस्कार उत्पन्न होते रहे और वे पुराने संस्कार, न जाने, कौनसे कोनेमें धकेले गये। ऐसेही, और भी कई प्रकारके अनुभव होते रहते हैं। एक पदार्थको देखनेसे भय और लज्जाका भाव पैदा होता है। दूसरेसे प्रसन्नताका विकास होता है। कभी २ विना देखे या सुनेही, अन्दरही अन्दर, संशय और विचार उठते रहते हैं। अपने आप विचार ढीला पड़ जाता है, और झट, पक्काभी कर लिया जाता है। रात्रिको सोकर उठते हैं। अपने २ काममें लग जाते हैं। अचानक अन्दरसे प्रेरणा होती है। कोई अधूरा छोड़ा हुआ कार्य स्मरण करके, हाथमें लिये हुए कामको छोड़ कर, हम उसकी ओर लग जाते हैं। यह संशय, निश्चय, स्मृति, विचार आदि अन्तःकरणके द्वाराही होते रहते हैं। अभी आप समझ चुके हैं कि बाह्य जगत्के समस्त संस्कार प्रथम मनपर पड़ते हैं। और फिर आत्मा तक पहुंचते हैं। इस प्रतीतिके पीछे इन संस्कारोंकी एक रेखासी मनपर पड़ जाती है। ऐसी रेखाएं आठों पहर पड़ती रहती हैं। जहां संबंध गहरा होता है, वहां यह रेखाएंभी गहरी बनती हैं। कम संबंध वाली रेखाएं पतली रहती हैं। यह सारा कार्य भौतिक जगत्के समानही होता है, क्योंकि मनभी चेतनसे भिन्न, एक विचित्र भौतिक तत्त्व ही है।

अन्त०—वास्तवमें जो आपने आरंभमें स्वप्नके संबंधमें बताया था,* वहभी अब पूरा २ स्पष्ट होने लगा है।

महा०—बिल्कुल ठीक। यही संस्कारोंकी रेखाएं, मानो, दूसरी वार प्रत्यक्ष कराती हैं। इसी तरह, जब हम पुरानी बातोंको स्मरण करना चाहते हैं' तो मानो, मनरूपी कुएंमें गोता लगाकर नीचे तहमें बैठे हुए पदार्थोंको ही ऊपर लाकर कहते हैं कि 'पहचान लिया। यह वह पदार्थ है'। लवण, कोइला आदिकी कानोंकी तरह, यहांभी तह पर तह जमी चली जाती है। एक २ को हम खोदते चले जाते हैं और इस प्रकार बीस २ वर्षकी बातोंको फिरसे स्मरण करके, मानो, दूसरी वार प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इस सारे कार्यक्रममें अन्तःकरणही मुख्य साधन है।

जीवात्मा अखण्ड, एकरस, ज्ञाता है। यह आपने पहिले भली प्रकार समझ ही लिया था†। इसलिये भूलना या फिर स्मृतिका नया करना उसका अपना स्वरूप नहीं होसकता है। ऐसा माननेसे वह एकरस नहीं रहेगा। और देखिये, उन्माद आदिमें बिल्कुल विस्मृतिका होजाना मनको अलग माने विना समझमें नहीं आसकता। यदि स्मरण तथा ज्ञानका संस्कार सीधा आत्माकोही होजाताहो, तो एक पागलको क्यों नहीं होता? उसका आत्मा तो सब आस्तिकोंके मतमें विकाररहित रहता है। वस्तुतः जैसे आंख खराब होजानेसे मनुष्य विरूप होजाता है, ऐसेही मनकी विकलताका नाम ही पागलपन है।

---

*देखो, वेदसन्देश, प्रथमभाग (संस्करण दूसरा) पृष्ठ ३०-३३।

† इसका विस्तार वेदसन्देश, प्रथम भाग, अ० १, उ० १, मं० २ की व्याख्यामें देखो। कुम्भसंस्करण, मूल्य १।।)

इसी तरह जितने और आन्तरिक कार्य्य होते हैं, उनमेंभी मनकी आवश्यकता आप समझ सकते हैं। भय, शोक, लज्जा, सन्देह, शिथिलता, निश्चय, सन्तोष, प्रसन्नता, धैर्य्य आदि अनेक नामोंसे इसी मनकी वृत्तियोंका वर्णन किया जाता है। किसी २ विचारकने मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारमें भेद माना है। परन्तु साधारणतया हम इन सबको अन्तःकरणके अन्दरही गिन सकते हैं। एकही पदार्थके वृत्ति-भेदसे अलग २ नाम पड़ जाते हैं।*

माया०—महाराज, क्या इस अद्भुत पदार्थके विषयमें वेदभी कुच्छ वर्णन करता है?

महा०—अवश्य। वेद सब सत्य विद्याओंका मूल-स्रोत है। उसीके संकेतों को लेकर, ऋषियोंने दर्शनों तथा उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें विस्तार किया है। अब कलसे इसी प्रकारके प्रकरणोंको लेकर, आपको वेद-सन्देश सुनाया करूंगा। मन बड़ा प्रबल पदार्थ है। इसके स्वरूपको ठीक २ समझ कर, जिन व्यक्तियोंने इसके बलको सफल किया है, वे स्वयंभी सुखी रहे हैं और उन्होंने दूसरोंकोभी आनन्दित किया है। जहां हम शक्तिको अच्छे कामोंमें लगाते हैं, वहां उससे बढ़कर बुरे कामोंमें नष्टभी करते हैं। वेद भगवान्का यह सन्देश है कि मनुष्य अपने मनोरथोंको पवित्र बनावे। अस्तु, आज इस चर्चाको यहीं छोड़ते हैं। चलो, नदी-तीर पर पहुंचकर नित्यकर्मका पालन करें।

यह कहकर महात्माजी बाहिर जानेकी तय्यारी करने लगे। सत्यकामने उनका आसन आदि उठा लिया। कुच्छ अपने घरोंको चले गये, शेष साथ हो लिये।

---

*शास्त्रीय वर्णनके लिये देखो, बृ० उ० १।५।३ ॥ वेदान्त० २।३।३२॥

पंचम खण्ड

मानस-सरोवर।

सत्य०—गुरुजी, कल सायंको नदी-तीर पर क्या आनन्द था। चन्द्रकी मीठी और शीतल चान्दनी शान्त जल-तलपर क्या अलौकिक सौन्दर्य उत्पन्न करती थी! उस पवित्र वेलामें, एकान्त निर्जन स्थानमें कैसी शान्तिका साम्राज्य था! भगवन्, चित्त अपने आप भगवान्के चरणोंमें झुकता जाता था।

महा०—बेटा, सत्य है। ऐसी परिस्थितिमें ही रह कर मनुष्य प्रभुकी अद्भुत महिमासे प्रभावित होता है। खुला आकाश, चन्द्रका प्रकाश, बेल, बूटोंपर पुष्पोंका विकास, निर्मल जलके शान्त प्रवाहमें छोटी २ तरंगोंका विलास मृतप्राय हृदयमें उल्लास पैदा करनेके लिये कुच्छ कम सामग्री है? सचतो यह है कि नगरोंके जमघटमें पड़े २ सड़नाही है। इस सड़ांदका अनुभव तभी होता है, जब हम कुच्छ समयके लिये इन तंग गलियों और कूचोंसे बाहिर, दूर निकल कर खुली वायुमें सांस लेते हैं। वहां जाकर जैसे भूमि और आकाश मिलते हुए दिखाई देते हैं, ऐसेही हमारे अपने तुच्छ, संकुचित जीवन भी अपने आप भगवान्की विशालतामें लीन होने लग जाते हैं।

माया०—ऋषियोंकी कितनी दूरदर्शिता थी कि उन्होंने प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठ कर बाहिर इसी प्रकारके स्थानोंपर

जाना प्रत्येक मनुष्यकेलिये धर्म बना दिया *। वहां तो वस्तुतः अपने आपही ध्यान एकाग्र होने लग जाता है।

महा०—प्यारो, सुनो, इस सारी बातको वेद कितनी सुन्दरतासे वर्णन कर रहा है।

(१) उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ॥ यजु० २६। १५॥

अर्थः—(गिरीणां) पर्वतोंके (उपह्वरे) एकान्त स्थानमें (च) और (नदीनां) नदियोंके (संगमे) संगम पर [जाकर] (धिया) ध्यानद्वारा [मनुष्य] (विप्रः) विस्तृत बुद्धिवाला (अजायत) हो जाता है ॥ १ ॥

सत्य०—महाराज, वास्तवमें यही बात है। रात्रिको निरालाही आनन्द था।

महा०—प्यारो, वह चान्द और वह नदी तुम्हारे अन्दरभी है।

लोक०—क्या, महाराज ?

महा०—मैंने कहा, हमारे अन्दरभी एक नदी बह रही है। उसमें कई नदियोंका पानी पड़ता और कई बार बाढ़ ला देता है, पर जब प्रवाह शान्त और निर्मल होता है, तो वह चान्दकी चान्दनीमें चान्दीका रूप धारण किये होता है।

उप०—महाराज, तनिक खोल कर कहिये। यह सुनकर तो मेरा उपराम भी चौंक पड़ा है।

---

* अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः॥ मनु० २। १०४॥

महा०—सुनो,

(२) पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत् सरित् ॥
यजु० ३४। ११ ॥

अर्थः—(पंच) पांच (नद्यः) नदियां (स-स्रोतसः) प्रवाह-सहित (सरस्वतीं) सरस्वतीमें (अपि-यन्ति) लीन होती हैं। (उ) और (सा) वह (सरस्वती) (तु) फिर (पञ्चधा) पांच प्रकार [के प्रवाहोंसे भर कर] देशमें (सरित्) [बहती हुई] नदी (अभवत्) बन जाती है॥ २॥

प्यारो, पिछले दोनों दिन इसी सरस्वतीका ही तो वर्णन होता रहा है। यह देश हमारा शरीर ही है। उसके अन्दर पांच ज्ञानेन्द्रियां अपने २ जल लेकर दिन रात इस मानस सरोवरमें डाल २ कर इसे बहती हुई नदीका रूप दे रही हैं। यह कभीभी न रुकने वाला प्रवाह है। समय आता है जब रूप, गन्ध आदि इसमें बाढ़ पैदा कर देते हैं। यह किनारोंको तोड़ने लग जाता है। समय आता है, जब यह निर्मल और शान्तरूपमें बहता हुआ, आत्म-रूपी चन्द्रके प्रकाशको प्रतिबिंबित करता है।

लोक०—आपका भाव यह हुआ कि अन्तःकरण एक प्रकारसे बड़ी भारी नदीके समान है।

महा०—सरस्वतीका भावही यही है। मन बड़ा वेगवान है कभी ठहरनेमें नहीं आता। यही मानसिक सरस्वती सब विद्या और विज्ञानकी खान है। इसको विकसित करने और उपयोगमें लानेसेही मनुष्य बड़ा बनता है। ऐसा करनेसेही वह मनुष्य नामको धारण करनेका अधिकारी होता है।

(३) मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन ।
पितॄणां च मन्मभिः ॥ ऋक्० १० । ५७ । ३ ॥

अर्थः—(नाराशंसेन) मनुष्योंद्वारा स्तुति करने योग्य (सोमेन) सोम (च) तथा (पितॄणां) ज्ञानवृद्धोंके (मन्मभिः) मानयोग्य [गुणों] के द्वारा (नु) शीघ्र (मनः) मनको (आ-हुवामहे) [धारण करनेके लिये] ललकारते हैं ॥ ३ ॥

सोम ओषधियोंका सार है । शारीरिक विकासका मुख्य साधन है । अतः प्रशंसाके योग्य है । सोये हुए बलको प्रेरित करके, मुरदा मनुष्योंको भी खड़ा कर देता है। सोम चन्द्रको भी कहते हैं । उसमें भी प्रेरणा-शक्ति अति अधिक पायी जाती है । सोम प्रेरणाके मूल-स्रोत परमेश्वर को भी कहते हैं। प्रेरणाका योग हो और विद्वानोंका उपदेश हो, तो मनकी शक्ति का पता चलता है और मनुष्य उसे धारण करनेके लिये उत्सुक होता है । परन्तु उसे विश्वास रखना चाहिये कि मनोबल बाहिरसे नहीं आता । अन्दर छिपा पड़ा है। उसे ललकारो और वह उठ खड़ा होगा ॥

(४) आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥　　　—४ ॥

अर्थः—[हे साधक] (ते) तेरा (मनः) मन (पुनः) फिर (आ-एतु) चारों ओर से प्राप्त हो [ताकि तू] (क्रत्वे) संकल्प (दक्षाय) बल (जीवसे) जीवन (च) और (सूर्यं) सूर्यका (दृशे) दर्शन (ज्योक्) सदा [धारण कर सके] ॥ ४ ॥

मन कहीं चला नहीं गया होता। विकासके संस्कार दब जाते हैं और मनुष्यको न सूर्य आदि भौतिक शक्तियोंसे लाभ पहुंचता है और न वह अपने आपको बलवान् समझता है। संकल्प दुर्बल हो जाता है और वह निर्जीव सा प्रतीत होता है। उसे चाहिये कि इस दुर्दशाको परे धकेलकर नया जीवन धारण करे। फिर प्राकृतिक तथा मानसिक शक्तियोंका विकास हो और लोकोपकारके लिये बल और संकल्प पैदा हो।

माया०—महाराज, जीवनका मुख्य चिह्न क्या है और उसको प्राप्त कैसे करें?

महा०—बेटा, अभी कहा है कि मानसिक गतिका अधिक होना ही जीवनका मुख्य चिह्न है। इसकी प्राप्तिसे ही हमारा मानव-देहका धारण करना सार्थक हो सकता है। नहीं तो, शेष पशुओंसे हमारा किस बातमें विशेष होगा। इस मानसिक वेगके अनेक प्रकाश हैं। ज्ञान, विज्ञान, वाग्मिता और स्फूर्त्ति इसीके रूपान्तर हैं। इन गुणोंका लाभ योग्य, धर्मात्मा, आप्त पुरुषोंके सत्संगसे होता है। वेदने अगले मन्त्रमें इन्हीं दोनों बातोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया है। सुनो,

(५) पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः।
जीवं व्रातं सचेमहि ॥ —५ ॥

अर्थः—हे (पितरः) विद्याविज्ञानके रक्षक वृद्ध पुरुषो, [समाजमें ऐसा प्रबन्ध करो कि] (दैव्यः) विद्याद्वारा प्रकाशित, देवता-स्वरूप (जनः) विद्वद्वर्ग (नः) हमें (पुनः) फिर [निद्रासे जगाकर] (मनः) मनन-बलको (ददातु)

प्रदान करे [ताकि] (जीव) जीते जागते (व्रातं) [मानव-] समूहके साथ (सचेमहि) [हम भी] शामिल हों ॥ ५ ॥

सत्य०—गुरुजी, जब यह मानस-सरोवर सदा हमारे अन्दर मौजूद रहता है, तो फिर इसकी प्राप्तिका क्या अर्थ ? दूसरे, वह उपाय क्या है, जिससे कि एक वार प्राप्त हुआ २ यह कोष नष्ट न होने पावे ।

महा०—बेटा, दो प्रकारसे प्राप्त वस्तु अप्राप्त-समान बन जाती है । प्रथम, हम स्वयं अशक्त होकर उसका उपयोग न कर सकें । दूसरे, वह वस्तु ही विकार-युक्त होकर उपयोगके योग्य न रहे । शीतल जल बड़ा शक्ति-दायक गिना गया है ; परन्तु ज्वरके चंगुलसे अभी २ निकले हुए, दुर्बल व्यक्तिको उसके किनारे पर खड़ा करके वस्त्र उतार कर कूदनेके लिये कह तो देखें । और, देखो । प्यासका रोकना ठीक नहीं । परन्तु समुद्रके किनारे बैठा हुआ प्यासा मनुष्य क्यों चुल्लु भरकर पानी पी नहीं लेता ? वहां अशक्ति और यहां खारापन, सामने होती हुई वस्तुको निरर्थक कर रहे हैं । इसलिये निर्बल शरीर, निर्बल इन्द्रियां, निर्बल आत्मा इस मनसे सुखके स्थानपर दुःख ही पाते हैं । और, इसी तरह दुर्बल मन बड़ेसे बड़े शूरवीरको भी एक पग आगे नहीं बढ़ने देता । इस रोगका उपाय शारीरिक, मानसिक और आत्मिक व्रतों और नियमोंका पालन करना ही है । जिस जातिमें इन बातोंका मान है, वहां निरन्तर विद्या, विज्ञान बढ़ते हैं और लोग सुखी रहते हैं । उनकी प्रजा बढ़ती है और संगठनका विकास होता है । इस विषयमें वेद क्या सुन्दर उपदेश करता है ।

(६) वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः।
प्रजावन्तः सचेमहि ॥ —६ ॥

अर्थः—हे (सोम) (वयं) हम (तव) तेरे (व्रते) नियमानुसार (तनूषु) शरीरोंमें (मनः) मानसिक बलको (बिभ्रतः) धारण करते हुए (प्रजावन्तः) प्रजासे युक्तहो कर (सचेमहि) संगठित होवें ॥ ६ ॥

भौतिक-सोमका व्रत शारीरिक मर्यादाकी रक्षा है। प्रेरणा के मूल, आत्मिक सोमका व्रत धार्मिक मर्यादाकी रक्षा है। दोनों मर्यादाओं की रक्षा से ही सर्वप्रकार का मानसिक बल बढ़कर व्यक्ति तथा समाजकेलिये हितकारी होता है। इस लिये, प्यारो, इस उपायका सहारा लेकर मनको जगाओ, और सम्पूर्ण उन्नति करो। प्रकाशमान परमात्माका सहारा इस भावसे युक्त हो कर लो, कि तुम्हारा मन प्रकाशसे युक्त हो जावे।

(७) स तेजीयसा मनसा त्वोत उत शिक्ष स्वपत्यस्य शिक्षोः। अग्ने रायो नृतमस्य प्रभूतौ भूयाम ते सुष्टुतयश्च वस्वः ॥ ऋक्० ३। १९। ३ ॥

अर्थः—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप भगवन्, [जो] (त्वोतः) तेरी कृपाका पात्र हो जाता है, (सः) वह (तेजीयसा) अति तेजस्वी (मनसा) मनसे [युक्त हो जाता है] (उत) और (स्वपत्यस्य) अच्छी सन्तान वाले (शिक्षोः) दानशीलको (शिक्ष) दो, (नृतमस्य) उन्नतिकारक (रायः) सम्पत्ति के

(प्रभूतौ) प्रभावमें (भूयाम) रहें (च) और (ते) तेरे (वस्वः) ऐश्वर्यके (सु-स्तुतयः) कीर्त्ति-गायक [बने रहें] ॥ ७॥

प्रभुकी भक्ति, दानशीलता, शिक्षादिद्वारा सन्तानको उन्नत करना, निरभिमान हो कर ऐश्वर्यको भले कार्यों में लगाना प्रभुके प्रसादका मूल है। और, उसका फल तेजस्वी मनकी प्राप्ति है। प्रभुकी महिमाको गाते रहना अपने मनको उन्नत करना है। ऊंचे विचार ही सदा सामने रहने चाहियें।

(८) यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥

यजु० ३६। २॥

अर्थः—(मे) मेरे (चक्षुषः) नेत्र [आदि बाह्य इन्द्रियों] (हृदयस्य) हृदयका (यत्) जो (छिद्र) दोष [हो] (वा) या [जो] (मनसः) मनकी (अतितृणं) व्याकुलता [है] (तत्) वह (मे) मेरी [त्रुटि] (बृहस्पतिः) सब विद्याका पालक (दधातु) पूर्ण करे। (यः) जो (भुवनस्य) ब्रह्माण्डका (पतिः) रक्षक [है, वह] (नः) हमारे लिये (शं) कल्याणकारी (भवतु) हो॥ ८॥

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें कोई न कोई त्रुटि पायी ही जाती है। सच पूछो तो मनुष्य-जन्म मिलता ही इस लिये है कि इन त्रुटियोंको पूरा करके अपने वास्तव लक्ष्य तक पहुंच सकें। इसलिये साधकको उचित है कि सकल विज्ञानके स्वामीका सदा ध्यान करता हुआ, बुद्धिको बढ़ावे और अपनी न्यूनताओंसे ऊपर उठे।

उप०—परमात्मा तो कल्याणस्वरूप है ही। फिर इस प्रार्थना से क्या लाभ ?

महा०—बेटा, यह ठीक है कि प्रभु हमारा सच्चा रक्षक है। परन्तु हम अपनी स्वाभाविक अल्पज्ञता से कई वार अहितको हित; अकर्म को कर्म समझ कर उसमें लग कर दुःख पाते हैं। उस समयके हीन संस्कारोंसे, मानो, हमारा सारा जीवन छिद्रमय होने लगता है। भगवान्की आराधनासे पुनः अपने स्वरूपका बोध होने लगता है। यही मानसिक पूर्णताका परम साधन है।

लोक०—महाराज, इस अल्पज्ञताका भी कोई उपाय है ?

महा०—वेद का यही सन्देश है कि विज्ञानमयी सरस्वतीका नित्य अमृतपान करते रहो। सच्चा आर्य सदा ज्ञानका प्रकाश चाहता रहे। देखो, वेद सरस्वतीकी महिमाका कैसे विस्तार करता है।

(९) यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥　　यजु० ३८। ५॥

अर्थः—हे (सरस्वति) (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः) स्तन (शशयः) [सबका] आश्रयभूत [है,] (यः) जो (मयोभूः) कल्याणकारी, (यः) जो (रत्नधा) रत्नोंको धारण करनेवाला, (यः) जो (वसुवित्) ऐश्वर्यको प्राप्त करने वाला (सुदत्रः) अच्छा दानकरनेवाला है [और] (येन) जिसके द्वारा [तू] (विश्वा) सब (वार्याणि) स्वीकार करने योग्य पदार्थोंको (पुष्यसि) पुष्ट करती हो (इह) यहां (तं)

उसे (धातवे) चूसनेकेलिये (अकः) प्राप्त कराओ, [ताकि मैं ज्ञानामृतका पान करके] (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्षके (अनु-एमि) सदृश होजाऊं ॥ ६ ॥

कितने महत्त्वसे पूर्ण यह वर्णन है । संसारमें जो भी ग्रहण करने योग्य धन, बल, ऐश्वर्य और गुण आदि हैं, उन सबका मूल साधन सरस्वतीका पान करनाही है । ज्ञानके दुग्धसे ही अन्तरिक्षके समान साधकका हृदय विकसित होसकता है ।

सत्य०—यह बात नहीं समझा ।

महा०—प्यारे, अन्तरिक्षके विस्तारका विचार करो । देखो, कितने लोकों और जीवोंका यह आधार बना हुआ है । सच्चे विद्वान्‌का हृदय विश्व-व्यापिनी सहानुभूतिसे पूर्ण होजाता है और उस विशाल हृदयमें, मानो, सब प्राणियोंके लिये स्थान बन जाता है । वह ज्ञान ज्ञान नहीं, जो इस प्रकार आत्माको विशाल नहीं बनाता । इसी विशालताको धारण करता हुआ उपासक प्रभुका प्यारा बनता है ।

(१०) यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनाँ अनु । यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदापृणद् घृतेन ॥ अथर्व ७ । ५७ । १ ॥

अर्थः—(यत्) जो (आशसा) आशापूर्वक (वदतः) कहते हुए (यत्) जो (याचमानस्य) मांगते २ (जनान्-अनु) लोगोंमें (चरतः) फिरते हुए (मे) मेरे [अन्दर] (विचुक्षुभे) व्याकुलता पैदा होती है, (यत्) जहां (मे) मेरे (तन्वः) अपने

(आत्मनि) स्वभावमें (विरिष्टं) हीनता [होती है,] (सरस्वती) (तत्) उसे (घृतेन) घृत से (आ-पृणात्) पूर्ण करे॥ १०॥

दीनताका जीवन महापाप है। दूसरोंकी दयाकी ओर आशापूर्वक देखना, उनसे मांगना और चापलूसी करना निन्दनीय कर्म हैं। वेद स्पष्ट उपदेश कर रहा है कि ऐसा कर्म अशान्ति पैदा करता और स्वभावको हीन तथा तुच्छ बनाता है। साथही उपायभी बतलाता है। सरस्वतीका आश्रयही सारे दरिद्र-भावको दूर कर सकता है। जैसे घी पचाकर शरीर पुष्ट किया जासकता है मानसिक विकासके लिये और तुच्छताके नाशके लिये सरस्वतीका धारण करना, मानो, घृतद्वारा पुष्ट होना है।

सज्जनो, इस प्रकार यह मानस सरोवर हम सबके हृदयमें ठाठें मार सकता है। साधारण लोगोंको इसकी शक्तिका ठीक २ अनुभव नहीं होता। मानसिक योगके सिद्ध करनेवाले महात्मा इसी शक्तिके आधारपर अलौकिक चमत्कारोंको करते हैं। हमें यदि यह निश्चय होजावे कि शरीर-बलसे सहस्रों गुणा बलका स्रोत अन्दर मौजूद है, तो फिर हमभी उत्साहसे पूर्ण होकर उसकी सिद्धिके लिये यत्न कर सकते हैं, क्योंकि यह एक गुप्त रहस्य है, इसलिये साधारण जनताकी इधर प्रवृत्ति नहीं होती। परन्तु जीवनकी पूर्णता तभी होगी, जब यह अंग पूर्णतया उन्नत होगा। वैदिकधर्मका यह महान् उपकार है कि इसने इस प्रकार इस गुप्त कोषको खोलनेका सन्देश दिया है वैदिक ऋषि ज्ञान, विज्ञान और विद्याके भक्त हुए हैं।

वस्तु०—यह तो नयाही प्रकरण चला है। अब आंखें बन्द करके ध्यान करना होगा।

महा०—घबराओ नहीं। बाहिरकी आंखोंके पीछे जो मानसिक आंख है, उसेभी खोलो। कोई आंख बन्द मत करो। बाहिरको अन्दर और अन्दरको बाहिर देखो।

जाओ, इन बातों पर विचार करो। कल पुनः आपको सुनाऊंगा कि किस प्रकार विद्या द्वारा सोये हुए मनको जगाना चाहिये।

समय अधिक होचुका था। सब भक्तोंने प्रेमसे नमस्ते की और उन पवित्र विचारोंको साथ लेकर अपनी २ राहली।



साधक की आत्म-चेतावनी।

वियापितं प्रगेतनं विहारिणा त्वया वयो, मदोत्कटेन यौवनं रतौ रतेन धिग्ध्रुवम् । प्रणाशतीरवर्त्तिनोऽपि पूर्ववत् प्रदाहिनो, रुचिर्न धर्मकर्मणि प्रजायते कथं तव ॥ १ ॥

अर्थः—अरे ! तूने खेल कूदमें बालकपनकी अवस्था खो दी, उन्मत्त होकर रति में लगे हुए यौवनको भी वस्तुतः खो दिया, धिक्कार है, पर क्या कारण है कि मृत्युके समीप पहुंच कर भी तू उसी तरह विषयोंकी अग्निसे जलता है और धर्म कर्ममें तेरी रुचि नहीं पैदा होती ॥ १ ॥

दरिद्रदानपोषणं शरण्यपालनं सदा, स्वयम्भुपादयो रतिः स्वधर्मलग्नता नृणाम् । सुखं करोति दुःखमातनोति कर्म निन्दितं, कृतिर्हि पुण्यपापतः प्रभावयत्तनूभृतः ॥२॥

अतो मनुष्य साधक ! प्रवर्त्तनामनागसि, प्रयत्नतस्त्वमातनु-परोपकारयुग्भव । वृथान्यपीडनं त्यज दयादिभावसंयुतः, कियन्ति सन्ति भूतले प्रबुध्यसे दिनानि ते ॥ ३ ॥

अर्थ—दरिद्रोंके दान और पालनसे शरणमें आये हुओंकी रक्षासे, भगवान्के चरणोंमें प्रेमसे और स्वधर्मके आचरणसे मनुष्यको सुख होता है। निन्दित कर्म दुःखका कारण है। पुण्य, पापके रूप वाला अपना कर्मही प्राणियोंका नियामक है। अतः, हे साधक ! पापसे बच। परोपकारी बन और पुण्यमें रुचि पैदा कर। दयालुहो और दूसरोंको वृथा मत सता। तुम्हें क्या पता, कितने दिन और तूने इस पृथिवीपर रहना है? कमर कस ले और मनके स्वरूपको समझते हुए, अपने अन्दर सरस्वतीको जगा, ताकि कल्याणहो ॥२,३॥

अथ सरस्वतीजागरणो नाम

द्वितीय उच्छ्वासः।

प्रथम खण्ड

बुद्धि की प्रेरणा।

लोक०—महाराज, कल सायंकालसे मैं अपने अन्दर एक विचित्र प्रेरणासी अनुभव कर रहा हूं।

महा०—हां, बेटा, कहो। क्या बात है?

लोक०—आपके साथ मिलनेसे पूर्व मैं समझता था कि धर्म बखेड़ों और झगड़ोंका नाम है। हर एकको अपने गुरुकी महिमा तथा पूजाकी चिन्ता लगी रहती है। अन्ध विश्वास और मिथ्या भावनाओंके आधारपर लोग कुच्छका कुच्छ मानने लग जाते हैं। परन्तु आपके सत्संगने प्रबल नदी-प्रवाहकी तरह मेरे मानसिक किनारोंको तोड़ना आरंभ कर दिया है। कलसे तो मैं बिल्कुल हिल गया हूं।

सत्य०—क्यों, भ्राताजी, कल विशेष क्या घटना हुई?

लोक०—वेदके अन्दरसे मनकी महिमा तथा ज्ञानकी प्रशंसा सुनकर तो मेरा रहा सहा अविश्वास भी चला गया है। मैं पहिले समझा करता था कि धर्मसे अभिप्राय यही होता है कि मनुष्य तिलक, छाप, माला आदिको धारण करे। लंबी धोती लगाकर 'नाम जपो, भाई, नाम जपो', 'राम २, भाई, राम' रटता हुआ इधरसे उधर और उधरसे इधर दो चार वार घूमे और लोग उसे भक्तजी, भक्तजी कहें। मेरा यह विश्वास था कि विद्या और विज्ञानके भक्तोंको अपनी कुटिया अलगही बनानी पड़ती

है। परन्तु कल तो यहांसे जाकर मेरी विचित्रही दशा थी। रातको सोये २ भी मैं महात्माजीके स्वप्न देखता रहा और मुझे कई वार प्रतीत होता था कि मैं किसी मन्दिरमें सरस्वती माताका दूध पीरहा हूं।

महा०—ऐसा होना ही चाहिये था आप लोगोंने वेदके पवित्र सन्देशको सुने विना ही कई प्रकारके भ्रम मनमें पैदा कर लिये होते हैं। यह ठीक है, दिखावेका स्वांग बहुत है। प्रत्येक धर्मके अन्दर लोग ऊपर २ तैरनेवाले अधिक मिलेंगे। परन्तु सर्वत्र कुच्छ न कुच्छ तत्त्वकी बातभी होती है, जिसे अच्छे परीक्षक समझते और अच्छे साधक आचरणमें लाते हैं। वेदका धर्म इसी लिये पूर्ण है कि इसमें लोक और परलोक, दोनों प्रकारके जीवनके विषयमें पूर्ण उपदेश है।

लोक०—किस तरह, महाराज!

महा०—प्यारे, इससे पूर्व तुम सूक्ष्म तत्त्वोंका वर्णन सुन चुकेहो। शरीरके विषयमेंभी पूर्ण उपदेश सुन चुकेहो। भला, सोचो तो सही, इन सूक्ष्म बातोंको ग्रहण करनेके लिये कितनी बुद्धि और कितनी विद्या चाहिये। इसी बुद्धिके आधारपर लोकमें ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इसीके ही सहारेसे आत्माके गुप्त रहस्योंका परिचय होता और मनुष्य मार्ग, कुमार्गको पहचानकर, अच्छे मार्ग पर चल सकता है। वेदकी पूर्णता इस बातमें है कि यह केवल शरीरको पुष्ट करना या आत्माका स्वरूपही केवल नहीं बताता, वरन् शरीरपर राज्य करनेवाली और आत्मज्ञानमें परम सहायक बुद्धिको बढ़ाने और पवित्र बनानेकोभी आवश्यक बताता है।

वेदका धर्म विद्याका शत्रु नहीं । यह विद्याका परम सहायक है। देखो, हमारा गुरु-मंत्र क्यों मुख्य मंत्र समझा जाता है। एक बालकको आर्य बनाते हुए, उसके कानमें किसी प्रकारकी गुप्त लीला नहींकी जाती। उसे किसी मनुष्यमें ऐसेही श्रद्धाके लिये नहीं कहा जाता। क्या किया जाता है? यज्ञोपवीत देता हुआ, गुरु इस मंत्रका उपदेश करता है।

(१) तत्सवितु र्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ११ ॥ यजु० ३। ३५ ॥

अर्थ—[हमें चाहिये कि हम] (सवितुः) [सर्व संसारको] उत्पन्न करनेवाले (देवस्य) प्रकाशमान [परमात्मा] के (वरेण्यं) वरने योग्य (भर्गः) तेजका (धीमहि) ध्यान करें (यः) जो [प्रभु] (नः) हमारी (धियः) बुद्धियोंको (प्रचोदयात्) विशेषरूपसे प्रेरित करता रहे ॥ १ ॥

सच जानो, वेद-सन्देशका यह सार है । उस नन्हेसे बालकको उपदेश होता है कि 'हे बालक, नित्य प्रभुके तेजसे अपने मानसिक अन्धेरेको दूर किया करो। नित्य प्रभुसे यही वर मांगा करो कि हमारी बुद्धि बढ़े। बुद्धिकी उन्नतिसे ज्ञानका दीपक प्रकाशित होता है। ज्ञानसे आत्माकी निद्राभी समाप्त होने लगती है। चारों ओर जागृतिही जागृतिका अनुभव होने लगता है। क्यों, सत्यकाम, गायत्री मंत्रका महत्त्व समझा?

सत्य०—गुरुजी, मुझे इस प्रकारसे पहिले नहीं सूझा था। वास्तवमें वेदका सन्देश ज्ञानका सन्देश है । वेदका उपासक ज्ञानका उपासक है। वेदका धर्म ज्ञानका धर्म है । अब मुझे

समझ आई है कि क्यों आर्यावर्त्तमें, जोकि सहस्रों शताब्दियों तक वैदिक ज्ञानका स्रोत रहा है, मतभेद और धर्मके नामपर अन्य देशोंके समान रुधिर-पात नहीं किया गया। यह मातृभूमि इस पापमयी हत्यासे दूषित नहीं हुई।

महा०—कदाचित् तुम्हें पता न हो, हमारे वैदिक ऋषियोंने तर्क अर्थात् ज्ञानपूर्वक परीक्षणको साक्षात् ऋषि माना है। इसे धर्मके मर्म जाननेके लिये परम सहायक समझा है*। ऋषियोंने बुद्धिकी इस महिमाको वेदहीसे समझा था। सुनो, वेद क्या कहता है।

(२) त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरागहि।
त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ॥ १२ ॥

अथर्व० ६। १०८। १॥

अर्थ—हे (मेधे) वेदादि सत्यविद्याओंको धारण कर सकने वाली बुद्धि देवि (त्वं) तू (गोभिः) गौओं (अश्वेभिः) घोड़ोंके

* "मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति॥ निरुक्त, १३। १२॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥ मनु० २। ८॥
न ह्ययं चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः।
मनसा दीपभूतेन महानात्मा प्रकाशते॥ महाभारत, शान्ति० २४५।१६
स्वेनात्मना चक्षुरिव प्रणेता निशात्यये तमसासंवृतात्मा।
ज्ञानं तु विज्ञानगुणेन युक्तं कर्माशुभं पश्यति वर्जनीयम्॥

महाभारत, शान्ति० १९९। १७॥

साथ [और] (त्वं) तू (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिभिः) किरणोंके साथ (प्रथमा) सबसे पहिले तथा प्रकृष्ट रूपसे (नः) हमें (आ-गहि) प्राप्तहो । (त्वं) तू (नः) हमारे लिये (यज्ञिया) पूजाके योग्य (असि) है ॥ २ ॥

(३) मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतांब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥१३॥　　०—२ ॥

अर्थः—मैं (प्रथमां) प्रकृष्ट (ब्रह्मणवतीं) ब्रह्मसे युक्त (ब्रह्मजूतां) ब्रह्मद्वारा प्रेरित (ऋषि-स्तुतां) ऋषियोंद्वारा स्तुतिकी गयी (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्मचारियोंद्वारा (प्र-पीतां) विशेष करके सेवनकी गयी तथा बढ़ायी गयी (मेधां) मेधाकी (हुवे) आराधना करता हूं, [ताकि] (देवानां) देवता (अवसे) रक्षा करें ॥ ३ ॥

(४) यां मेधां ऋभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः । ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि ॥१४॥ ०—३ ॥

अर्थः—(यां) जिस (मेधां) मेधाको (ऋभवः) कला-कौशलमें प्रवीण विद्वान् (विदुः) जानते हैं, (यां) जिस (मेधां) बुद्धिको (असुराः) मेघ आदिकी विद्याके ज्ञानी (विदुः) जानते हैं, (यां) जिस (भद्रां) कल्याणमयी (मेधां) बुद्धिको (ऋषयः) ऋषि (विदुः) जानते हैं (तां) उसे (मयि) अपने अन्दर (आ-वेशयामसि) स्थापित करते हैं ॥ ४ ॥

(५) यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥१५॥　　—४ ॥

अर्थः—(यां) जिस (मेधां) बुद्धिको (भूतकृतः) विविध पदार्थोंको बनानेवाले (मेधाविनः) बुद्धिमान (ऋषयः) ऋषि (विदुः) जानते हैं। हे (अग्ने) प्रकाश-स्वरूप, भगवन्, (तया) उस (मेधया) मेधासे (अद्य) अब (मां) मुझे (मेधाविनं) बुद्धमान् (कृणु) कीजिये ॥ ५ ॥

(६) मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यान्दिने परि। मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥१६॥ ०—५ ॥

अर्थः—(सायं) सांझ (प्रातः) सुवेरे (मध्यन्दिने) दोपहरके समय (सूर्यस्य) सूर्यकी रश्मियोंके साथ (वचसा) वाणीद्वारा (मेधां) बुद्धिको [हम] (आ-वेशयामसि) धारण करते हैं ॥ ६ ॥

सत्य०—वाणीद्वारा बुद्धि कैसे धारण होती है ? सूर्यकी रश्मियोंके साथ, भगवन्, बुद्धिका क्या संबंध है ?

महा०—बेटा, वाणी मनकी इच्छाओं, भावनाओं और वासनाओंका प्रकाशक साधन है। वेद साधकोंको यह उपदेश करता है कि वाणीद्वारा कहो कि हममें बुद्धि आवे। प्रातःसायं, दिन और रात्रि तथा अन्य सब समयोंमें जब अवसर मिले, इस मानसिक धारणाका वाचिक प्रकाश करो। इसका अपने ऊपर निरालाही प्रभाव पड़ता है। सोयी हुई बुद्धि जाग पड़ती है। आलस्य दूर होता है। चेतनता उमड़ पड़ती है। कहनेसे तात्पर्य दूसरेसे कहना नहीं, प्रत्युत एकान्त स्थानमें, अपने आपको सम्बोधन करके या प्रकाशस्वरूप प्रभुके सम्मुख कहनेसे तात्पर्य है। यह भावना और प्रार्थना शक्तिका स्रोत है और, सूर्यकी किरणोंका

विस्तार तो देखो । प्रभातके समय कभी बाहिर, खुले मैदानमें निकल जाओ और उदय होते हुए सूर्य भगवान्की छविको देखो । अभी न जाने कहांसे, एक अति लाल रंगका गोलासा पृथिवी और आकाशके जोड़से ऊपर उठता है और अभी उसकी लाली श्वेत प्रकाशमें बदल जाती है । अब उसकी ओर देखा नहीं जासकता । उसने अपनी किरणोंको चारोंओर विस्तृत रूपसे फैला दिया है । कोने २ में उसका प्रकाश पहुंच चुका है । यह है प्यारो, सूर्यकी रश्मियोंका भाव, और इसीके अनुसार दूर २ तक पहुंचनेवाली, विद्या-मन्दिरके प्रत्येक कोनेमें प्रकाश करनेवाली सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली विशाल बुद्धिका धारण करना वेद सिखाता है ।

माया०—महाराज, आपने अभी सुनाया कि बुद्धि ब्रह्मसे युक्त और ब्रह्मसे प्रेरितहो । इसे तनिक खोलकर कहियेगा ।

महा०—प्यारे, ब्रह्म परमेश्वरका नाम है । ब्रह्म वेदको भी कहते हैं । ब्रह्म सूक्ष्म ज्ञानकाभी नाम है । उसके धारण करने वाले ब्राह्मणकोभी ब्रह्मन् शब्दसे संकेतित करते हैं । बुद्धि वही अच्छी और उन्नत होगी, जो इन बातोंको समझ सके तथा आस्तिक भावसे युक्तहो । प्रभुकी प्रेरणासे ही बुद्धिका अत्यन्त विकास होता है । सत्य-ज्ञानका आश्रय लेकर बुद्धि विशाल बनती है । इसीलिये आगे यहां कहा है कि ऋषि लोग जिस बुद्धिकी स्तुति करें, वह बुद्धि हमारे लिये उपादेय है। मिथ्यावाद वितण्डा, शुष्कतर्क आदि भ्रमोत्पादक और जलमन्थनमात्र हैं । इनमें समय खपाना आयुका नाश करना है। विद्या और विज्ञानकी उन्नतिकेलिये आवश्यक है कि सादा तथा सरल जीवन वाले,

तपस्वी, व्रतचारी, शान्तस्वभाव, योग्य लोग सूक्ष्म तत्त्वोंकी परीक्षा करते रहें। जहां जनतामें ऐसे पुरुषोंकी कमी होजाती है, वहां परस्पर द्वेष, द्रोह, निन्दा, ईर्ष्या आदि पापाचारका खूब प्रचार होता है। तूं २ और मैं २ का घोर राक्षस-राज्य विस्तृत होता है। अशान्ति बढ़ती है। शोर अधिक होता है और कार्य कम होता है। अतः वेदने क्या सुन्दर सन्देश दिया है, कि विज्ञान-सहायक बुद्धि ब्रह्मचारी लोगों द्वारा सेवनकी जाकर अच्छी तरह बढ़ती है। वे निर्लोभरूपसे प्रजाहितके लिये उत्तम बुद्धिका प्रकाश करते हैं। देहमें रीढ़की हड्डीकी तरह यह धर्मात्मा लोग समाजके जीवनके आधार होते हैं।

वस्तु०—महाराज, यह महाशय तो अपने आसनसे हिलतेही नहीं। समाजपर इनका प्रभाव क्या होता होगा?

महा०—नहीं, भोले, तुम भूल रहे हो। यही तो इनकी उस महती, ओजस्विनी बुद्धिका चमत्कार है कि वे अपने आसन पर बैठे बिठाये संसारको हिला डालते हैं। साधारण लोग क्षणिक उबालसे घबरा जाते हैं। पर यह चटानोंकी तरह ज्वारभाटोंमेंभी निश्चल खड़े रहते हैं। वेदभगवान्‌का यह आशय है कि ऐसे प्रकाश-स्तंभही संकटमें जातियोंकी रक्षा करते और शान्तिके समयमें अपनी ज्योतिसे प्रकाशित करते रहते हैं।

लोक०—महाराज, गौओं और घोड़ोंके साथ बुद्धिके आनेका क्या भाव है?

महा०—बेटा, गौएं और घोड़े शारीरिक पुष्टिके चिह्न हैं। वेदका यह भाव है कि पुष्ट शरीरका होना अत्यावश्यक है। साधारणतया सांसारिक ऐश्वर्य और बल बुद्धिके ऊपर शासन

करता है, परन्तु साथही यहभी उपदेश है कि यह समृद्धि बुद्धिका फलरूपभी है। वे बुद्धिमान् निर्बुद्धि हैं, जिनके होते हुए, जाति में न सुख बढ़ता है, न गौएं होती हैं और न घोड़े होते हैं। बुद्धिमत्ताका यह परिणाम होना चाहिये कि लोगोंका ऐश्वर्य बढ़े।

अन्त०—भगवन्, तो क्या भारतवर्षमें आजकल विद्वानोंकी कमी है, जो प्रतिवर्ष अकाल पड़े रहते हैं।

महा०—हां, प्यारे, ऐसे विद्वानोंकी कमी है, जो अपनी जातिके सुखके लिये अपना आप निछावर करनेवाले हों। और जो कुच्छ थोड़ी बहुत अवस्था सुधरभी रही है, उसकी नींवमें इने गिने पांच दस व्यक्तियोंकाही तो कार्य है। इसलिये इसीमेंही प्रत्येक जातिका कल्याण है कि उसके अन्दर प्राकृतिक तथा मानसिक ज्ञानके भण्डाररूप, तत्त्ववेत्ता विद्वान् अधिकहों। और सुनिये।

(७) द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः। अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥१७॥ अथर्व० १२।१।५३

अर्थः—(द्यौः) द्युलोक (च) और (पृथिवी) (च) और (अन्तरिक्ष) मध्यवर्त्तीलोकने (मे) मुझे (इदं) यह (व्यचः) विस्तार [दिया है]। (अग्निः) आग (सूर्यः) सूर्य (आपः) जल (च) और (विश्व) सारे (देवाः) देवताओंने (मेधां) मेधाको (सं-ददुः) अच्छे प्रकारसे दिया है ॥ ७ ॥

अनुभवी विद्वान्के सामने विस्तृतभूमि और आकाश विस्तारके आदर्श हैं। अग्नि आदि देवताओंकी संगतिसे उसके

अन्दर विचार पैदा होकर, सूक्ष्म बुद्धिकी आधार-शिला बनती है। इन शक्तियोंका खुला संपक नाना प्रकारके इशारे करता और ज्ञानको जगाता है। वेदका यह आशय है कि खुले, विशाल जीवन तथा बुद्धिकी विशालतामें इर्द गिर्दके भौतिक जगत्का बड़ा हाथ है। एक २ फूल और पत्ते में, मानो, पुस्तकोंकी पुस्तकें बन्द पड़ी ह। आंखें रखने वाले ध्यानसे देखें। विस्तृत संसारमें रहते हुए विस्तारको धारण करना सीखें।

माया०—धन्यहो, महाराज, आपके एक २ शब्दसे नया उत्साह पैदा होता है।

महा०—अरे भाई, मेरे शब्द क्या हैं ? वेद भगवान्कीही यह कृपा है। उसके एक २ प्रकरणमें उत्साह ही उत्साह भरा है। एक मन्त्र और सुनाकर आजका खण्ड समाप्त करूंगा।

(८) इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय। यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥१८॥ ऋक० ३। १८। ३॥

अर्थः—(इध्मेन) ईंधन [और] (घृतेन) घृतके साथ (इच्छमानः) [उन्नतिकी] इच्छा करता हुआ (हव्यं) सामग्रीकी (जुहोमि) आहुति देता हूं, [ताकि मुझे] (तरसे) वेग [और] (बलाय) बल [प्राप्तहो]। (यावत्) जहांतक (ईशे) मुझमें सामर्थ्य है, (ब्रह्मणा) स्तोत्रद्वारा (वन्दमानः) भक्ति करता हुआ (शतसेयाय) सैंकड़ों प्रकारकी प्राप्तिकेलिये (इमां) इस [अति प्रसिद्ध तथा उपयोगी] (देवीं) प्रकाशमान (धियं) बुद्धिको [उपयुक्त करूंगा] ॥ ८ ॥

सज्जनो, भक्तिका बुद्धिकी उन्नतिके साथ पूर्वभी इशारा किया जाचुका है। यहांभी वेदने यही उपदेश किया है कि बुद्धिमान्‌की परीक्षा उसके विनयसे होगी। जो अभिमानी होकर प्रभुके आगेभी झुक नहीं सकता, उसकी बुद्धिसे क्या लाभ? वह तो विद्याकी अविद्यामें है। पुरुषार्थका क्या अच्छा उपदेश है। जबतक प्राणोंमें प्राण है, पूर्ण उद्यम करते रहो। झट घबरा न जाया करो। कोई मनुष्य एकही छलांगसे न राजा, न धनाढ्य और न ऋषि बन सकता है। हां, यह विश्वास होना चाहिये कि हमारे अन्दर बढ़ने और बड़ा बननेके बीज मौजूदहैं। बुद्धिका प्रकाश होना चाहिये, ताकि हममें उन बीजोंको विस्तार देनेका भाव पैदा हो।

सत्य०—महाराज, वेग और बलके लिये आहुति देनेका क्या भाव है?

महा०—बेटा, अभी देवताओंकी संगतिके लाभोंका संकेत कियागया था। प्रभु प्रकाशस्वरूप तथा महोपकारी है। अग्नि उसकी दिव्य शक्तियोंका एक प्रसिद्ध प्रतिनिधि है। ईन्धन और घृतके साथ आहुतिका देना इस बातका संकेत है कि साधक अग्निकी भान्ति प्रकाशको धारण करता हुआ, त्याग तथा उपकारके भावसे युक्तहो। इस प्रकारके संकेतोंको समझनेसेही देवताओंसे सम्पर्क बढ़ता है। इसे ही देवयज्ञ कहते हैं।

लोक०—तो क्या यह होम केवल विश्वासके आधारपर क्रियामात्र नहीं है?

महा०—होम क्रिया है परन्तु देवयज्ञ केवल क्रिया नहीं। यज्ञका वास्तविक तात्पर्य आत्मिक संस्कारकी शुद्धि है और वह

विज्ञान और विचारके पीछे आचरणपर निर्भर है। इसके विना क्रिया २ रह जाती है। वह धर्म नहीं बनता। धर्मका भाव धारण करनेवाला बल और सामर्थ्य है। उसका बुद्धिके विकासके साथ घना संबंध है। अतः यह वेद भगवान्‌की महिमा समझो कि ज्ञान और कर्मको मिलाकर, बुद्धिको बढ़ाते हुए सत्यधर्मके पालनका उपदेश करता है*।

माया०—भगवन्, आजकल दिन अति छोटे होगये हैं। आपकोभी देर होजाती है। यदि आज्ञाहो, तो कुछ पहिले आजाया करें।

महा०—हां, ठीक है। पांच बजेके लगभग आजाया करें। अच्छा, तो अब और देर न करें।

द्वितीय खण्ड

ज्ञानकी महिमा।

महा०—सत्यकाम, देखोतो सही, आज क्या बात है? अभीतक कोई आया नहीं।

सत्य०—महाराज, अभी आजाते हैं। (खिड़कीसे बाहिरकी ओर मुख करके) वह कई आ रहे हैं।

माया०—भगवन्, नमस्ते। कहीं बहुत चिर तो नहीं हो गया। हम प्रायः मार्गमेंही सब मिलते गयेथे। वस्तुस्वरूपजीके

---

* इस विषयके विस्तारके लिये देखो, देवयज्ञप्रदीपिका, पृष्ठ २८-८८के अन्तर्गत प्रकरण।

मकानके आगे कुछ समय ठहरना पड़ा। उनके एक संबंधी आये हुए थे। (उसकी ओर देखकर) महाराज, इन्हें साथ लाये हैं।

महा०—अच्छा किया। जितने अधिक कानोंमें वेदकी पवित्र वाणी पड़ सके, उतनाही अच्छा है। वस्तुस्वरूप, यह आपके संबंधी कहांसे आये हुए हैं?

वस्तु०—गुरुजी, आपका नाम महाशय देवमित्र है। आप मथुराके रहनेवाले, अच्छे सुपठित और देशभक्त हैं। आपको विद्वानोंके सत्संगमें बड़ी रुचि है।

सत्य०—तो, अवश्य शताब्दी-महोत्सवमें पधारे होंगे?

देव०—(मुस्कराकर और सिर झुकाकर, महात्माजीके चरणोंमें कुछ फल रखकर) महाराज, मैंने आपके दर्शन वहां पर किये थे। आपका उपदेशभी सुना था। आज फिर यह अवसर पाकर कृतार्थ हुआ हूं।

महा०—महाशय जी, धर्म-चर्चा और विद्या-विनोदके लिये परस्पर संवाद करना और मिलकर बैठना बड़ा लाभदायक है। कल मैंने बुद्धिकी प्रेरणाके विषयमें कुछ मंत्र सुनाये थे। आज उससे आगे चलता हूं। सुनिये, सरस्वती अर्थात् विद्याके गौरवको वेद भगवान कैसे वर्णन करता है।

(१) पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥१९॥ यजु० २०। ८४।

अर्थः—हे भगवन् (पावका) पवित्र करनेवाली (वाजेभिः) [नानाप्रकारके] बलोंसे (वाजिनीवती) बलयुक्त हुई २ (धियावसुः) बुद्धिद्वारा धन, ऐश्वर्यको प्राप्त करानेवाली

(सरस्वती) विद्या (नः) हमारे (यज्ञं) [जीवनरूपी] यज्ञको (वष्टु) पसन्द करे ॥ १ ॥

कौनसा मल है, जो ज्ञान दूर नहीं कर देता ? कौनसा बल है, जो विद्याद्वारा प्राप्त नहीं होसकता ? बुद्धि विद्या-प्राप्तिका साधन है और बुद्धिकी विशालता विद्याका परिणाम है। धन और ऐश्वर्य उस उन्नत बुद्धिका निश्चित फल होता है, परन्तु यह सुख-सम्पत्ति स्थिर तब होगी, जब हमारा जीवन यज्ञरूप होगा। अर्थात्, विद्वानोंकी पूजा, मिलकर रहना और दानशीलता जिस समाजमें पाये जावेंगे, वहीं विज्ञानका अधिक विस्तार और फल होगा।

सत्य०—महाराज, यह बातें तो ज्ञानके पीछेही आती हैं।

महा०—हां, परन्तु कई वार इससे उलटे गुण रखनेवालोंके पासभी विद्या चली जाती है। वह उनके पूर्व कर्मोंका फल समझो। उससे समाजको विशेष लाभ नहीं होता। इसलिये वेदका भाव हमारे सामने विद्याके उच्च आदर्शको रखनेका है। सुनो,

(२) चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती ॥२०॥　　　०—८५ ॥

अर्थः—(सूनृतानां) प्रेमभरे, सत्य व्यवहारोंकी (चोदयित्री) प्रेरणा करनेवाली (सुमतीनां) अच्छे विचारोंको (चेतन्ती) सिखानेवाली (सरस्वती) विद्या (यज्ञं) यज्ञमय [जीवन] को (दधे) पुष्ट करती है ॥ २ ॥

वस्तु०—पाठशालाओं और विद्यालयोंमें दीवारोंपर लटकाने योग्य क्या सुन्दर उपदेश है !

सत्य०—अजी, दीवारोंपर क्या, प्रत्येक पढ़ने पढ़ाने वालेको अपने हृदयपर लिखकर, ऐसा बनना चाहिये।

महा०—और, सुनिये।

(३) महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना । धियो विश्वा वि राजति ॥२१॥ ०—८६ ॥

अर्थः—(सरस्वती) (केतुना) ज्ञानद्वारा (महः) अति विस्तृत (अर्णः) [मानसिकवेगके] प्रवाहको (प्रचेतयति) [चला देती है, मानो] जगादेती है । (विश्वा) सर्व प्रकारकी (धियः) ध्यान-शक्तियोंको (विराजति) चमका देती है ॥ ३ ॥

प्यारो, हृदय-मन्दिरमें सरस्वतीदेवीको स्थापित करो। मनको जगाओ और विचार-शक्तिकी नदीसी बहादो । अपने आपको नित्य इस निर्मल स्रोतमें स्नान कराओ । बाहिरका जल आत्मा तक नहीं पहुंच सकता* । जो इस तीर्थमें स्नान कर चुकते हैं, उनके विषयमें देखो, वेद क्या महत्त्वपूर्ण सन्देश दे रहा है।

(४) सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥२२॥ ऋक्० १० । ७१ । २ ॥

अर्थः—(यत्र) जिस [समाज] में (धीराः) बुद्धिमान् जन (तितउना) चालनीद्वारा (सक्तुम्-इव) सत्तुकी तरह (मनसा) मनद्वारा (वाचं) वाणीको (पुनन्तः) शुद्ध करके

---

* अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ मनु० ५ । १०९ ॥

(अक्रत) प्रयोगमें लाते हैं। (अत्र) यहां [परही] (सखायः) मित्र (सख्यानि) मित्रता [करना] (जानते) जानते हैं। (एषां) इन (विद्वानों) की (अधि-वाचि) वाणीपर (भद्रा) कल्याण करनेवाली (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (निहिता) निवास करती है ॥४॥

वाणी मानसिक भावोंकाही प्रकाश करती है। बुद्धिमानोंको उचित है कि ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर आदि विकारोंसे पृथक् करके, शुद्ध, प्रेममयी वाणीका विस्तार करें। जो उनके समीप आवे, उनके प्रेम भरे व्यवहारसे मोहित हो जावे। परमात्माने मुखमें वज्र नहीं रखा। यह जिह्वा हृदयके प्रेमको प्रकाशित करनेके लिये है।

देव०—महाराज, जब अन्दरही प्रेम न हो, तो वाणी क्या प्रकट करेगी?

महा०—प्यारे, इसीलिये तो वेद स्पष्ट कह रहा है कि विद्वानोंको प्रथम अपने हृदयकी शुद्धि करनी चाहिये। फिर मनको चालनी बनाकर, प्रत्येक बात सोच समझकर निकालनी चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि समाजमें शान्तिका विस्तार होगा और सबका कल्याण होगा। यही मित्रताका वास्तविक आधार है। वाग्-वज्रके सामने मित्रता कहां ठहर सकती है। इसलिये वेद संसारमें सौम्य, शान्त, सात्त्विक स्वभाववाले, स्निग्ध विद्वानोंकी आवश्यकताको बताता है।

(५) यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्। तामाभृत्य व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते ॥२३॥ ०—३ ॥

अर्थः—[उन्होंने] (यज्ञेन) यज्ञद्वारा (वाचः) वाणीकी (पद्वीयं) गतिको (आयन्) प्राप्त किया। (तां) उस (ऋषिषु) ऋषियोंमें (प्रविष्टां) प्रविष्ट हुई २ को (अनु-अविन्दन्) [यत्न करके उन्होंने] पा लिया। (तां) उसे (आभृत्य) अच्छी तरह धारण करके [उन्होंने] (पुरुत्रा) सर्वत्र (वि-अदधुः) विस्तार कर दिया। (तां) उसीको (सप्त) सात (रेभाः) स्वर (अभि-सं-नवन्ते) पूर्णतया गाते हैं ॥ ५ ॥

यज्ञका वाणीके साथ संबंध इससे पूर्वभी दर्शाया जा चुका है। वैदिक जीवनका यज्ञ मुख्य केन्द्र है। ऋषियोंमें विद्यामयी वाणी कहांसे आकर प्रवेश करती है। समस्त अनुभवी लोगोंका यह सिद्धान्त है कि प्रभुही अपने भक्तोंको निहाल करता है। उसीकी प्रेरणासे अतीन्द्रिय बातें सूझ पड़ती हैं। जिन्हें यह प्रकाश होता है, उन आदि ऋषियोंसे सत्संग करके दूसरे लोग प्रकाश लाभ करते हैं। फिर वे आगे विस्तार करते हैं। इस प्रकारसे सत्य विद्या संसारमें फैलती है। किसीका इसमें अनधिकार नहीं। जो समझ सकता है, पुरुषार्थ करनेको तय्यार है, श्रद्धालु है, वह अवश्य पालेगा। सप्त स्वरोंमें ही सारा संगीत बन्द है। पूर्णताको प्राप्त होकर, सच्चे हृदयोंसे निकलती हुई वाणी गीतमयी बन जाती है। सकल साहित्य और संगीत विज्ञानसे पूर्ण वाणीपर निर्भर है। इसलिये सब प्रकारसे इसकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ करो।

माया०—महाराज,क्या शूद्रोंकोभी विद्या पढ़ानी चाहिये।

महा०—क्यों नहीं ? उन्होंने क्या पाप किया है। वेद भगवान् सबका मार्ग विशाल करना चाहता है।

दया०—पर, यहांतो वेदके नाम परही शूद्रोंको पढ़नेसे रोका जाता रहा है।

सत्य०—और, इसका फल क्या हुआ है। विद्याका नाश, राज्यका नाश, ऐश्वर्यका नाश, आत्मविश्वासका नाश, परस्पर प्रेमका नाश और समाजका नाश।

महा०—बिल्कुल ठीक। वेदके धर्मके विरुद्ध कियाजाता रहा है। यह पाप और अत्याचार था। इसीका यह सारा कड़वा फल है, जो हम अब भोग रहे हैं।

(६) उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥२४॥ ०—४० ॥

अर्थः—(उत) एक ओर (त्वः) एक [वह है, जो] (पश्यन्) देखता हुआ (वाचं) वाणीको (न) नहीं (ददर्श) देखता। (उत) एक ओर (त्वः) एक [है, जो] (शृण्वन्) सुनता हुआ (एनां) इसे (न) नहीं (शृणोति) सुनता। (उ) और (उत) दूसरी ओर (त्वस्मै) एक [वह है, जिसके] प्रति [वाणी) (तन्वं) अपने आपको (वि-सस्रे) पूर्णतया प्रकट कर देती है, (इव) जैसे (उशती) कामना करती हुई (सु-वासाः) सुन्दर वस्त्रोंवाली (जाया) स्त्री [अपने] (पत्ये) पतिके प्रति [अपने आपको समर्पित कर देती है] ॥ ६ ॥

ज्ञानकी महिमा कितनी ही हो, सारे लोगोंने एक जैसा तो इसे नहीं अपनाना। अपनी २ योग्यता और अपनी २ रुचिका प्रश्न है। वेद कितने बलसे मनुष्योंके परस्पर भेदको प्रकट करताहै।

एक वह मनुष्यहै, जिसके आगे संसारकी पुस्तक खुली पड़ीहै, उसके कानोंमें अच्छेसे अच्छे शब्द पड़तेहैं, परन्तु उसका मन जागनेमें नहीं आता। दूसरी ओर मनुष्योंका वह विभागभी है, जिसके सामने विद्या दासीके समान खड़ी रहती है। वेदकी उपमा इससेभी बढ़कर है। दासीका संबध दबावका संबंध है। पत्नी तो प्रेमकी मूर्त्ति है। विद्या मानो, उसकी अर्धाङ्गिनी बनकर जीवन-यज्ञको पूर्ण करनेमें पूरी सहायता करती है।

(७) उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ २५ ॥　　०—५ ॥

अर्थः—(उत) और (त्वं) एकको [तो लोग] (सख्ये) मित्रतामें (स्थिरपीतं) पक्का पिया हुआ (आहुः) वर्णन करते हैं, (अपि) और (वाजिनेषु) विद्याकी चर्चाओं और सम्वादोंमें (एनं) इसकी [पहुंचको कोई] (न) नहीं (हिन्वन्ति) पहुंच सकते। [दूसरी ओर] (एषः) यह [इस प्रकारकाभी मनुष्य है, जो] (अधेन्वा) तृप्त न कर सकनेवाली (मायया) मायासे [युक्त होकर] (चरति) जीवन व्यतीत करता है, [उसने] (वाचं) वाणीको (शुश्रुवान्) सुना [तो] है, [परन्तु वह] (अफलां) फलों [तथा] (अपुष्पां) पुष्पोंसे शून्य [थी] ॥ ७ ॥

पूर्व कह आये हैं कि मित्रताका आधार सच्चे विद्वानोंका प्रेम-भरा जीवन होता है। यहां इस बातकी ओर फिर इशारा करके कहा है कि विद्याके सागरमें अच्छी प्रकार स्नान कियेहुए, अनुभवी सज्जनोंकी मित्रता ही पक्की मित्रता होती है। शरीर,

धन, वस्त्र, मकान आदिका आकर्षण संसारमें मित्रताका मूल बनता है। परन्तु, प्यारो, यह मित्रता कितने बखेड़ेके साथ समाप्त होती है। कितनी लड़ाई, कितना झगड़ा और कितना दुःख इसमें मिला रहता है।

वस्तु०—महाराज, बड़े २ कवियोंने इसी मित्रताके वर्णनमें अपनी लेखनीको चलाया है।

महा०—यह ठीक है। सांसारिक जनोंको अपने जैसोंके चित्र देखकर ही सन्तोष प्राप्त होता है। परन्तु यह मित्रता ज्ञानकी आत्मिक मित्रताके सामने फीकी दिखाई देती है। दूसरे चित्रपर भी विचार करो। मूर्ख समझता होगा कि मेरे समान यहां कौन चालाक है। यही तो मनुष्यकी मूर्खताका सबसे बड़ा चिह्न है। यह उसका माया-भ्रम है। यह दूध न देनेवाली गौ समझो। उसने दो चार शब्द पढ़े होंगे। परन्तु वह विद्याकी लता हरी-भरी नहीं। उसपर न पुष्प है, न फल है। उसके ऊपर न पक्षियोंको विश्राम मिलता है और न उसकी छायामें मनुष्यों और पशुओंको आराम मिलता है। वेदका यह भाव है कि इस प्रकारके मूढ़-मति विद्वान् मत बनो। संसारके साथ पूरी सहानुभूति रखनेवाले, विनय आदि गुणोंसे सुभूषित विद्वान् बनना ही अपना लक्ष्य बनाओ।

(८) यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥२६॥ ०—६ ॥

अर्थः—(यः) जो [ज्ञानरूपी] (सचिविदं) साथ देने

वाले (सखायं) मित्रको (तित्याज) त्याग देता है (तस्य) उसके लिये (वाचि) वाणीमें (अपि) भी (भागः) [सेवन करने योग्य] भाग (न) नहीं (अस्ति) है। (यत्) जो (ईं) कुच्छ (शृणोति) सुनता है, (अलकं) मिथ्या (शृणोति) सुनता है, (हि) क्योंकि (सुकृतस्य) कल्याणके (पन्थां) मार्गको (न) नहीं (प्र-वेद) पाता ॥ ८ ॥

ऐसा मनुष्य जो कुच्छभी सुने या पढ़े, वह तत्त्व-ज्ञानसे शून्य होनेके कारण पूरा सहायक नहीं होता। वाणीका सेवनीय भाग क्या है? सुविचारोंका प्रकाश, जिसे लोग अपना सकें। जब अन्दर ज्ञानही नहीं, तो वाणी केवल हिलती है और शब्द उत्पन्न होता है। पर उसमें कोई सार नहीं होता। अतः शुष्कवाद तथा जलमन्थनमें न पड़ कर, तत्त्वज्ञानको ही विद्याका लक्ष्य समझना चाहिये।

(९) अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः। आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥२७॥ ०—७ ॥

अर्थः—(अक्षण्वन्तः) आंखें रखनेवाले (कर्णवन्तः) कान रखनेवाले (सखायः) [समान स्वरूपवाले] साथी (मनोजवेषु) मनकी दौड़ोंमें (असमाः) अतुल्य (बभूवुः) होते हैं। (त्वे) कुच्छ (उ) तो (आदघ्नासः) मुख पर्यन्त [अथवा] (उपकक्षासः) बगलों तक [आने वाले जलके] (ह्रदाः इव) तालावोंकी तरह (उ) और (त्वे) कुच्छ

(स्नात्वाः) [खुला] स्नान करने योग्य [तालाबोंकी [तरह] (ददृश्रे) दिखाई देते हैं ॥ ६ ॥

वही आंखें हैं, वही कान हैं। वही हाथ हैं, वही पग हैं, परन्तु एक वह है, जो मानो, हिमालयकी हिमाच्छादित चोटीपर खड़ा है। और, एक वह है, जो सागरके किसी गहरे गढ़ेमें छिपा पड़ा है। एक वह है, जो नेता बनकर अंगुलीके इशारेसे सहस्रों अपने जैसे मनुष्य देहधारियोंको पीछे चलाता है। एक वह है, जिसे भेड़ बकरीकी भान्ति जहां चाहो, हांक लो। मनुष्य २ के मध्यमें यह अन्तर इस मानसिक गतिके कम या अधिक होनेके कारणसे ही है। अन्तरानन्दजी, आपभी कविता किया करते हैं। वेदके काव्यका भी नमूना देखा ?

अन्त०—भगवन्, क्या भाषा और क्या भाव, वर्णनकी क्या सरलता और क्या सुन्दरता, जिस बातमें देखता हूं, चकित हो रहा हूं।

वस्तु०—महाराज, ठीक है। इन्ही अनुपम गुणोंके कारणही तो आर्यजाति न जाने कितने कालसे, वेदकी शरणमें समर्पित होचुकी है।

महा०—देखो, इस मन्त्रमें सर्वप्रिय विद्वान्का स्वरूप कैसी अच्छी तरहसे बतायागया है।

(१०) सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः। किल्विषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥२८॥ ०—१० ॥

अर्थः—(सर्वे) सारे (सखायः) साथी [अपने] (सख्या) मित्रके साथ [जोकि] (यशसा) यशसे [युक्त होकर] (आगतेन) आया हो [तथा] (सभासाहेन) सभाको सह सकता हो [अर्थात् बड़े २ दिग्गज पण्डितोंकी सभामें प्रतिष्ठित हुआ हो] (नन्दन्ति) आनन्दको प्राप्त होते हैं, (हि) क्योंकि (सः) वह (एषां) इन [अपने साथियोंका] (किल्बिषस्पृत्) पाप-हरण करनेवाला (पितु-सनिः) अन्न लानेवाला [तथा] (वाजिनाय) बल और वीर्यके [सम्पादनके] लिये (अरं) बहुत (हितः) हितकारी (भवति) होता है ॥ १० ॥

जब समाजमें ऐसे विद्वान् प्रकट हों, जो पापाचरण, रोगकारी, मैले व्यवहारोंको नष्ट करें, निर्धनता और दरिद्रताको दूरकर ऐसे उपाय करें, जिनसे सम्पत्ति बढ़े और निर्बलताके स्थानपर बल और पराक्रमसे पूर्ण उत्साहका विस्तार करें, तो फिर क्यों उन्नति न हो ! सामाजिक धर्म भी क्या अच्छा बताया है। लोगोंको चाहिये कि ऐसे सूक्ष्मदर्शी, तत्त्ववेताओं, तपस्वी ब्राह्मणोंकी पूजा करें। विद्वानोंको भी वेद उपदेश करता है कि अपने साथियोंकी प्रतिष्ठाको देखकर प्रसन्न हुआ करें।

देव०—यह तो बड़ी कठिन बात है। साधारण लोग तो फिरभी मिलकर रह लेंगे, पर विद्वानोंसे तो यह नहीं हो सकता। एक दूसरेको देखकर जलतेही रहते हैं।

सत्य०—भाई साहिब, सभी ऐसे थोड़े हैं ?

वस्तु०—यह ठीक है, बीज नाश नहीं हुआ। पर साधारण अनुभव तो ऐसाही है।

लोक०—एक नगरमें दो राजा नहीं रह सकते । एक मियानमें दो तलवारें नहीं समा सकतीं। ऐसेही दो पण्डित भी मिलकर काम करते हुए शायद ही कहीं पाये जाते हों !

महा०—मैं आपका भाव समझ रहा हूं । इस समयकी हमारी अवस्था कुच्छ ऐसीही बन रही है । इसका मूल आर्य-साम्राज्यका नाश होजाना है। पुराने आदर्शके अनुसार ब्राह्मणका धन उसकी तपस्या होती थी। उस धनका धनी बड़े २ नरपतियोंके अभिमान-मदका मर्दन कर देता था। परन्तु इस समय प्रत्येकको अपनी रोटीकी पड़ी है। जब एक टुकड़ा दूसरेको जाता दिखाई दे, तो यही प्रतीत होता है कि हो न हो, यह मेरी रोटीमेंसे ही कट कर जा रहा है। इसका परिणाम यह है कि सारे समाजका ही लक्ष्य तुच्छ तृप्ति बन गया है । वेद सोये हुए लोगोंको फिर जगाता है। वेद ऐसे विद्वान चाहता है, जो एक दूसरेकी कीर्त्ति-पताकाका विस्तार करनेवाले हों। उनका आदर्श लोक-सेवा हो, न कि स्वार्थ-पूर्त्ति। स्वार्थ अशान्ति बढ़ाता है, सेवाका भाव इसे कम करता है। सज्जनो, यह निश्चय जानो कि सामाजिक विकास तभी ठीक २ होगा, जब जनता फिर वेद भगवान्के इस पवित्र उपदेशपर आचरण करेगी । सत्यकाम, आसन आदि तय्यार करो। सन्ध्याका समय होगया है । देवमित्र जी, आप अभी कुच्छ दिन यहीं रहेंगे ?

देव०—नहीं, महाराज, जी तो यही चाहता है कि आपका उपदेश सुनता रहूं। पर पीछे एक आवश्यक कार्य है । मुझे कलही जाना पड़ेगा।

महा०—अच्छा, प्रसन्न रहो । इन बातोंका विचार करते रहना ।

यह कहकर महात्माजी उठ पड़े । सबने श्रद्धासे नमस्तेकी और अपने घरोंकी ओर चल पड़े ।

तृतीय खण्ड

वाग्देवीका आत्म-दर्शन ।

महा०—वस्तुस्वरूप जी, आपके मित्र चले गये ?

वस्तु०—जी हां, स्टेशनसेही आ रहा हूं ।

माया०—भगवन्, आज किस विषयको लेंगे ? कौनसे रसका आज आस्वादन होगा ?

महा०—प्यारो, कल और परसों दो दिन आपने वेद भगवान्के शब्दोंमें बुद्धि तथा ज्ञानकी महिमा सुनी । आज जो सूक्त आपको सुनाऊंगा, उसमें स्वयं वाग्देवी अपना स्वरूप वर्णन करती है । एक २ मंत्र काव्य-रत्न है ।

सत्य०—अन्य धर्मोंके ग्रन्थोंमें तो विज्ञान-वृक्षके फलोंका आस्वादन अच्छा नहीं समझा गया ।

महा०—यही तो वेदका महत्त्व है । सबसे पुराना धर्म-ग्रन्थहो और इतना बुद्धि, मेधा, विद्या और विज्ञानका पोषक हो । सच है, सामाजिक विकासके माननेवालोंने अपने सिद्धान्त वैदिक साहित्यपर दृष्टिपात किये विनाही स्थिर करलिये हैं ।

यदि वे वेदादि सच्छास्त्रोंके उज्ज्वल तथा सूक्ष्म भावोंपर विचार करें, तो अपनी सम्मतिको बदले विना न रह सकेंगे । सुनो, वाणी भगवती क्या कहती है !

(१) अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुतविश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभाबिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥२९॥
ऋक्० १० । १२५ । १ ॥

अर्थः—(अहं) मैं (रुद्रेभिः) रुद्रों (वसुभिः) वसुओं (आदित्यैः) आदित्यों (उत) और (विश्वदेवैः) [अलक्षित, असंख्य] सकलदेवताओंके साथ (चरामि) विचरती हूं । (अहं) मैं (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (उभा) दोनों (अश्विना) अश्वियोंको (बिभर्मि) धारण और पुष्ट करती हूं ॥ १ ॥

परमात्मा सर्वत्र व्यापक होता हुआ भी स्थूल नेत्रोंद्वारा दिखाई नहीं देता । परन्तु जहां देखो, उसके चमत्कार दिखाई देते हैं, भौतिक जगत्में सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, मेघ, वायु, पृथिवी, अग्नि और जल उसकी महिमाके विस्तार हैं । देहमें इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदिकी सूक्ष्म रचना उसीका परिचय देती है । समाजमें विद्वान्, त्यागके आदर्श, महापुरुष उसकाही यश गाते हैं । वे समाजके प्राणरूप हैं । इन चमत्कारोंको वैदिक परिभाषामें देवता कहते हैं ।

रुद्र, वसु, आदित्य, मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्वी इन्हीं देवताओंमेंसे हैं । भौतिक जगत्में यह मेघ, पृथिव्यादि निवासस्थान, मास, संवत्सर आदि नियत व्रतचारी, सूर्य,

सर्वव्यापक जल, विद्युत, आग, दिन और रात्रि आदिके संकेत हैं। शरीरमें प्राण, इन्द्रियादिके वाचक हैं। समाजमें विद्वानों, ब्रह्मचारियों, सन्यासियों, उपदेशकादिकोंसे तात्पर्य है। सज्जनो, वाग्देवी इन सबके साथ विचरती है; इनको धारण करती और पुष्ट बनाती है। परमाणु २ में परमेश्वरका अखण्ड, अनन्त ज्ञान काम कर रहा है। बिना उसकी आज्ञाके एक पत्ताभी नहीं हिल सकता। सामाजिक देवता कायिक देवताओंकी सहायतासे भौतिक देवताओंका ज्ञान प्राप्त कर, लोकमें उसका विस्तार करते हैं।

(२) अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्। अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥ ३० ॥ ०—२ ॥

अर्थः—(अहं) मैं (आ-हनसं) पाप-नाशक (सोमं) सोम (त्वष्टारं) [सब जगत्का विधान करनेवाले] त्वष्टा (उत) और (पूषणं) [सबको पुष्ट करनेवाले] पूषा (भगं) [सबको ऐश्वर्य देनेवाले] भगको (बिभर्मि) धारण करती हूं। (अहं) मैं (हविष्मते) होम करनेवाले (सुप्राव्ये) अच्छे प्रकार रक्षादि द्वारा पालन करनेवाले (सुन्वते) सोमयज्ञादि करते हुए (यजमानाय) परोपकार करनेवाले [मनुष्यके लिये] (द्रविणं) धनको (दधामि) धारण करती हूं ॥ २ ॥

सोमादि विभूतियां वास्तव उपकारक तब होती हैं, जब मनुष्य इनसे पूरा २ लाभ प्राप्त करे। इसके लिये यह आवश्यक है

कि वह विचारशील और सूक्ष्मदर्शी बने। ऐसा होनेपर तो मेघ क्या और बिजली क्या, सूर्य क्या और चन्द्र क्या, जल क्या और वायु क्या, पृथिवी क्या और अग्नि क्या, सभी भौतिक आध्यात्मिक और सामाजिक देवता उसके लिये ज्ञानका कोष खोले खड़े हैं। सुननेवाला चाहिये। शब्द होरहा है, महान् शब्द होरहा है। वाग्देवी इस सर्वव्यापी, छिपे हुए शब्द-भण्डार और सूक्ष्मज्ञानकी ओर हमें प्रेरित करती है।

दूसरी बात कर्मकाण्डके साथ संबंध रखती है। यजमानको विश्वास होना चाहिये कि मेरा किया हुआ कर्म मेरेलिये मनोवाञ्छित आनन्दका लानेवाला होगा। यज्ञका एक २ अंग संकेतोंसे पूर्ण है। उसे समझनेवाला चाहिये। वाग्देवी वहां भी विद्यमान है। जो इस तत्त्वको समझकर ठीक रीतिसे कर्म करने लगजाता है, उसे यह देवी निहाल कर देती है।

(३) अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ ३१॥ ०—३॥

अर्थः—(अहं) मैं (राष्ट्री) [सब जगत्पर] राज्य करनेवाली (वसूनां) [विविध प्रकारके] धनोंको (संगमनी) प्राप्त करानेवाली (चिकितुषी) [सकल] ज्ञानके धारण करने कराने वाली (यज्ञियानां) पूज्योंमें (प्रथमा) मुख्य हूं। (तं) उस (भूरिस्थात्रां) नाना रूपोंमें ठहरी हुई (भूरि आवेशयन्तीं) नाना भावोंमें परिपूर्ण होकर समायी हुई (मा) मुझको (देवाः) देवताओंने (पुरुत्रा) सर्वत्र (वि-अदधुः) फैला दिया है॥ ३॥

यह विद्यामयी वाणीही है, जो जगत्‌की महारानी है। बड़े २ राजा और महाराजा इसके आगे मस्तक झुकाये रहते हैं। वह कौनसा धन है, जिसे यह अपने भक्तको न लाकर देतीहो। सारे साम्राज्य और सारे कोष इसीके चरणोंमें केन्द्रित हैं। यह पूज्यों की पूज्य है। वास्तवमें यही तो सबसे पहिले इस बातको सिखाती है कि इस प्रकारके लोगोंकी पूजा करनी चाहिये। उन स्थानोंका और उन रूपोंका कोई अन्त नहीं, जिनमें यह विज्ञानात्मक वाणी भगवती पायी जाती है। सचमुच आयु बहुत थोड़ी है और प्यारो, सीखनेवाली बातें अनन्त हैं। वेद उन विद्वानोंको अच्छा समझता और देवता पदसे प्रतिष्ठित करता है, जो इस देवीके सन्देशको देश देशान्तर और द्वीप, द्वीपान्तरमें लेजाते हैं। वेद नहीं चाहता कि संसारमें कोई मूर्ख रहे।

लोक०—भगवन्, बड़े आश्चर्यकी बातें आप सुनाते हैं। क्या यह सच नहीं है कि सभ्य संसारमें भारतवासीही सबसे अधिक प्रतिशतक निरक्षर हैं? और, यह वेदके माननेवालोंका देश है।

महा०—बेटा, तुम जो कुछ कहते हो, ठीक है और बड़ा दुःखदायक है। पर यह भी तुम्हें पता होना चाहिये, कि अब वेदको माननेवाले यहां नहीं रहते। मानना इसका तभी असली था, जब लोग इसकी आज्ञाओंको मानते थे। और उस समयके इतिहासके आधारपर ही तो अब भी हम दूसरे लोगोंके साथ आंखें मिला सकते हैं। भारतके वैदिककालमें अविद्या पापरूप समझी जाती थी। राजा बड़े अभिमानसे

कह सकते थे कि हमारे राज्योंमें कोई अविद्वान् नहीं है * ।

आज किस देशका राजा इतना गौरवयुक्त वचन कह सकता है? महाराज दशरथके समयकी अयोध्याका वर्णन सुनो,

"कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिकः" ॥

वाल्मीकरामायण १।६।८॥

नारियां भी वेद तक पढ़ती और यज्ञ करती थीं। सुनो, कौशल्या महाराणीका वृत्तान्त,

"सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमंगला" ॥

वाल्मीक० २।२०।१५॥

सुग्रीव, हनुमान् आदि जंगली देशके रहनेवाले थे। परन्तु विद्याका प्रचार वहां भी भली-भान्ति होचुका था। सुनो, महाराज रामचन्द्र हनुमान्के मधुर-वचनोंको सुनकर कैसे उसकी विद्याकी प्रशंसा करते हैं।

"नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहुव्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्" ॥

वाल्मीक० ४।३।२८, २९॥

कहां यह ब्रह्मर्षियों और राजर्षियोंका आर्यावर्त्त देश और कहां आजकलके दब्बू हिन्दुओंका हिन्दोस्तान! मातृभूमिकी इस समय यदि सबसे कोई बड़ी सेवा है, तो वह घर-घरमें विद्याके दीपकका प्रकाश और अपने चमकतेहुए पूर्वजोंकी पवित्र स्मृतिका जीवित करना है।

---

* "स ह प्रातः संजिहान उवाच,
न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः" ॥

छान्दोग्य० ५।११।५॥

शूद्र और जंगली लोग भी पढ़े लिखे होते थे। सभी नर, नारी विद्या-सागरमें खुले स्नानका आनन्द लिया करते थे।

सत्य०—महाराज, हम कितने गिरे हैं ? कहां तो वह पर्वतका शिखर, और कहां यह रसातल !

महा०—प्यारे, वेद तुम्हारी जातिकी जान है। तुम्हारे मुरदा ढांचोंका प्राण है। इसीका फिर प्रचार करो, वही भाव, वही विचार और वही आदर्श फिर लौट पड़ेंगे। संसारके इतिहासमें ऐसे उतार-चढ़ाव आया ही करते हैं। पुरुषार्थ करो और दूसरोंसे कराओ। अविद्या-पिशाचीको देशके कोने कोनेसे दूर भगाओ। इसीमें कल्याणका सारा मूल-मन्त्र गुप्त है।

वस्तु०—अब मैं समझा कि स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस बातपर इतना बल लगाया है। अब उनके पीछे उनके अनुयायियोंने भी विद्या-प्रचारको अपने कार्यका एक मुख्य अंग बना रखा है।

महा०—प्रत्येक वेदभक्तको ऐसा ही करना चाहिये। सुनो, आगे भगवती क्या कहती है !

(४) मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्। अमन्तवो मान्त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवन्ते वदामि ॥३२॥ ०—४॥

अर्थः—(यः) जो (वि-पश्यति) अच्छी तरह देखता, (यः) जो (प्राणिति) अच्छी तरह जीवन धारण करता (ईं) और (यः) जो (उक्तं) कहे [वचन] को (शृणोति) सुनता

है, (सः) वह (मया) मेरेद्वारा (अन्नं) अन्नको (अत्ति) खाता है [अर्थात् उसका वास्तव जीवनका आधार मैं हूं]। हे (श्रुत) विद्वान् पुरुष, (श्रुधि) [ध्यानसे] सुन। (ते) तुझे (श्रद्धिवं) विश्वास करने योग्य [बात] (वदामि) कहती हूं। [अपने चारों ओर दृष्टि-पात कर और देख] (ते) वे [कितने आदमी] (मां) मुझे (अमन्तवः) न जानतेहुए [तेरे] (उप) समीप (क्षियन्ति) निवास कर रहे हैं ॥४॥

सज्जनो, वाग्देवी आपके सामने क्या सुन्दर, वैदिक-जीवनका आदर्श रखती है। विज्ञानको अपने जीवनकी आधार-शिला बनाओ। उसके ऊपर विशाल भवन खड़ा करो। पर यहीं बस न कर देना। अपने चारों ओर बसनेवाले झोंपड़ोंमें भी देख लेना। उन्हें भी आश्वासन देना और अपने जैसा बनानेका यत्न करना। प्रभुको प्रसन्न करनेका यही मार्ग है। मौखिक जमा-खर्च करना बहुत सुगम है। सिद्धान्तको कार्य-रूपमें लाना ही कठिन है। यश उसीका होगा, जो इस कड़े मार्गपर चलताहुआ नहीं घबराएगा।

(५) अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः। यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥२३॥ ०—५॥

अर्थः—(अहं) मैं (एव) ही (स्वयं) अपनेआप (इदं) यह (वदामि) कहती हूं। [इस मेरे कथनका] (देवेभिः) देवताओं (उत) और (मानुषेभिः) मनुष्योंने (जुष्टं) सेवन

किया है [अर्थात् इसकी सचाईका अनुभव किया है] । (यं) जिसे (कामये) पसन्द करती हूं, (तं तं) उसे अवश्य (उग्रं) शक्तिशाली (ब्रह्माणं) चारों वेदोंका वक्ता (ऋषिं) दीर्घदर्शी ऋषि (सुमेधां) अच्छी मेधासे युक्त (कृणोमि) बना देती हूं ॥५॥

यह सर्वानुभूत और स्वतःसिद्ध सचाई है । जिसपर सरस्वती दयालु होती है, वह क्या नहीं बन जाता ? जिधर पांव उठाता है, विजय-श्री हाथ बांधे आगे खड़ी होती है । यह प्रत्येक मनुष्यको स्वयं निश्चय करना चाहिये कि वह कहां तक ऊपर उड़ना चाहता है । प्यारो, विद्याके इस विस्तृत आकाशमें गतिकी कोई सीमा नहीं है । चले चलो, बढ़े चलो, यही आदि और यही अन्तका सन्देश है ।

(६) अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥३४॥
०—६ ॥

अर्थः—(अहं) मैं (रुद्राय) रुद्ररूप [दण्डधारी, नियमपालक राजा] के लिये (धनुः) धनुषका (आ-तनोमि) चिल्ला चढ़ाती हूं, [ताकि वह] (ब्रह्मद्विषे) ईश्वर, वेद और ब्राह्मणधर्मके शत्रुदलका (शरवे) शस्त्रोंद्वारा (उ) निश्चयपूर्वक (हन्तवै) नाश कर सके । (अहं) मैं (जनाय) जनताकेलिये (समदं) मिलकर आनन्द-प्राप्तिका साधन (कृणोमि) उपस्थित करती हूं, (अहं) मैं (द्यावापृथिवी) द्युलोक और भूमिमें (आविवेश) समा रही हूं ॥ ६ ॥

जहां राजाका कार्य प्रजाओंका रंजन और प्रेम है । वहां

उसे अच्छे पिता और गुरुके समान समयपर दण्ड भी धारण करना पड़ता है। कब प्रेमका समय है और कब दण्डका, इसीके विवेकपर उसकी कीर्त्ति और सिद्धि निर्भर है। विद्या-देवीकी पूजा उसे यह विवेक प्रदान करती है। वह ठीक ठीक न्याययुक्त रीतिसे संसारसे नास्तिक-बुद्धिवाले, तप, त्याग, दयादि सौम्यगुणोंका नाश करनेवाले, विज्ञानके शत्रुओंका दमन कर सकता है।

और, यह कितने महत्त्वकी बात कही कि मैं तुम्हें इकट्ठा आनन्द प्राप्त करना सिखाती हूं। वेदकी विद्याका वस्तुतः आदर्श बहुत ऊंचा है। हम इसके प्रकाशमें खड़े नहीं होसकते। मिलकर आनन्द लेना कहां, और हमारा स्वभाव कहां? पर, प्यारो, ऐसे चिह्न-चक्र पैदा होरहे हैं, जो विद्वानोंको उनकी नींदसे उघाड़नेवाले हैं। वेदका यह महत्त्व है कि यह विद्याद्वारा आनन्द-प्राप्तिको एक सांझी वस्तु बतलाता है।

(७) अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे। ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥३५॥ ०—७॥

अर्थः—(अहं) मैं (अस्य) इस [जगत्] के (पितरं) पालन करनेवाले [द्यु-लोक] को (मूर्धन्) [माथेके समान] ऊपर आकाशमें (सुवे) प्रेरित करती हूं। (मम) मेरी (योनिः) जन्मस्थान (समुद्रे) समुद्रके (अन्तः) अन्दर (अप्सु) जलोंमें है। (ततः) वहांसे (विश्वा) सकल (भुवना) लोकों (अनु) में (वि-तिष्ठे) फैल जाती हूं। (वर्ष्मणा) अपने शरीर

[अर्थात् स्वरूप] से (द्यां) द्यु-लोकको (उप-स्पृशामि) जा छूती हूं ॥ ७ ॥

द्युलोकमें सूर्य, चन्द्र, तारागण प्रभुकी विश्व-व्यापिनी, अन्धकार-नाशिनी, सर्व-प्रकाशिनी, विद्यामयी ज्योतिसे ही चमकते हैं। भगवान्के ज्ञानमय नियमोंसे ही प्रेरित होकर, वे दिनरात प्रजाके हितमें पिताके समान होकर लगे रहते हैं। जलोंसे भरा समुद्र भी एक दूसरा संसार है। उसकी गहरीसे गहरी कन्दरामें भी भगवान्की बुद्धिकी ज्योति जग रही है। वहांसे, मानो, उसकी किरणें निकल-निकलकर सारे लोकोंमें व्यापक होती हुई द्युलोकके भी पार जा पहुंचती हैं। *

(८) अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा। परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव ॥३६॥ ०—८॥

अर्थ:—(अहं) मैं (एव) ही (विश्वा) सारे (भुवनानि) लोकोंको (आ-रभमाणा) बनाती और धारण करती हुई

* आध्यात्मिक अर्थः—

(अहं) मैं (अस्य) इस (शरीर) के (पितरं) रक्षक [जीवात्मा] को (मूर्धन्) मस्तक [अथवा रीढ़की हड्डीके शिखर] में (सुवे) प्रेरित करती हूं। (मम) मेरा (योनिः) जन्मस्थान (समुद्रे) [मानसिक] समुद्रके (अन्तः) अन्दर (अप्सु) [विचारोंके] प्रवाहमें है। (ततः) वहांसे निकल-निकलकर मैं सारे संसारमें फैलती हूं इत्यादि।

अर्थात् बुद्धिका सूक्ष्म तत्त्व हृदयके अन्तर्गत अंकुरित होकर, मस्तकके संस्कारोंको ग्रहण करता और सारे विश्वको समझनेकेलिये, मानो, विस्तृत होता है।

(वातः इव) वायुकी तरह (प्र-वामि) प्रकृष्ट गतिको करती हूं। (दिवा) द्युलोककी अपेक्षा (परः) परे (एना) इस (पृथिव्या) पृथिवीकी अपेक्षा (परः) परे [अर्थात् इनसे अधिक विस्तृत हूं, और मैं अपने विषयमें क्या कहूं] (महिना) महिमासे युक्त होकर (एतावती) इतनी (सं-बभूव) हूं ॥ ८ ॥

कोई लोक नहीं, कोई द्वीप नहीं, जहां भगवती वाग्देवीका सम्बन्ध न हो। परमेश्वर भी जो कुछ बनाता है, इसे धारण करके ही बनाता है। वायुका खुला संचार होता है। इसी प्रकार इस विचित्र-शक्तिका भी खुला प्रचार होरहा है। सकल निर्माणमें मुख्य साधन होनेकेकारण, मानो, यही सब कुछ बना रही है। सारी सृष्टिकी आदिमें भगवान्का विज्ञानमय दिव्य शब्द ही होता है। भगवान्के साथ उसका यह शब्द भी सर्वत्र व्यापक होरहा है। इसी आशयको प्रकट करतीहुई भगवती कहती है कि पृथिवी और आकाशसे भी मैं परे हूं। और मेरे विषयमें क्या पूछोगे, अब मुझे अपनाओ, धारण करो और पूर्ण ऋद्धि, सिद्धिके स्वामी बनो।

सत्य०—भगवन्, इन प्रकरणोंको सुनकर, मानो, आंखें खुल गयी हैं। ऐसे प्रतीत होने लगा है कि विद्याके अथाह सागरके किनारेसे भी अभी कोसों दूर पड़े हैं। अज्ञानका सिरपर इतना दबाव पड़ा है कि पग उठते ही नहीं। मार्ग बताओ, सच्चा मार्ग बताओ, जिसपर चलें, ताकि हमारा कल्याण हो।

माया०—सच्चे गुरो, कहां वे दिन थे जब 'अहंब्रह्म' के दो शब्दोंको रट-रटकर मेरा मस्तक अभिमानके नशेसे चकरा

रहा था, और, आहा, कहां ये दिन भी आये हैं कि आगे मार्ग ही नहीं दिखाई नहीं देता। सारा मद उड़ चुका है। अब तो उसके पीछेकी शिथिलता-सी मारे जाती है। भगवन्, आपके यह शब्द मेरे कानोंपर पड़ते हैं। अन्दर भी जाते हैं। उठना भी चाहता हूं। सरस्वतीके दीपकको जगाना भी चाहता हूं। पर स्वप्नावस्थाकी तरह अपनी छातीपर पत्थर-सा पड़ा हुआ अनुभव करता हूं। कुछ भय-सा प्रतीत होता है। कुछ संकोच, कुछ लज्जा और कुछ और अनेक प्रकारके विचार पैदा हो-होकर मुझे दबाये चले जाते हैं।

महा०—प्यारो, मत घबराओ। यह तुम्हारी तड़प स्वाभाविक है। वेदके पवित्र सन्देशने तुम्हें जगाया है। अन्धेरेमें रहनेका स्वभाव पड़ चुका था। प्रकाश दुःसह्य प्रतीत होता है। पर शनैः शनैः अभ्यास होजावेगा। विद्याका वास्तवमें कोई अन्त नहीं। प्रभुने बुद्धि दी है, मन दिया है। स्मृतिकी शक्ति बनायी है। अब तो ठीक प्रकारसे इन्हें प्रयोग करनेकी बात है। नित्य प्रातः उठकर भगवानकी आराधना करते समय उसके अनन्त ज्ञानका ध्यान किया करो। उस सर्वज्ञ प्रभुसे ही ज्ञानकी भिक्षा किया करो। और साधन भी हैं और उनका अपने समयपर वर्णन भी करूंगा। परन्तु इस साधनसे सब नीचे हैं। कल मैं आपको उन मानसिक जापोंको सुनाऊंगा, जिन्हें आप इस प्रयोजनकेलिये प्रयोगमें लाया करें। उत्साहको धारण करो और जिस मार्गपर चले हो, इसीपर स्थिर रहो। सदा आशावान् रहो, निराशाको पास न आने दो। सबसे पहिली बात जो वेद सिखाता है, वह यही है।

माया०—बहुत अच्छा, महाराज, ऐसे ही करेंगे।

सब प्रेमपूर्वक महात्माजीसे विदा हुए। वे सत्यकामको साथ लेकर नदी-तीरकी ओर घूमने तथा नित्य-कर्म करनेके विचारसे चल पड़े।

—:-o-:—

चतुर्थ खण्ड

शरणागतकी टेर

दूसरे दिन सब भक्तजन ठीक समयपर पहुंच गये। महात्माजी वहां न थे। आज वे सारा दिन बाहिर ही रहे थे। दोपहरका भोजन भी न किया था। सत्यकाम यह बात अपने साथियोंके पूछनेपर सुना ही रहा था, कि महात्माजी भी आ पहुंचे। सबने उठकर स्वागत किया।

महा०—क्या समय होगया? बहुत प्रतीक्षा तो नहीं करनी पड़ी? सूर्यके अनुमानसे ही आगया हूं।

सत्य०—नहीं, महाराज, अभी सब भाई आरहे हैं। सारा दिन आपने कुछ आहार नहीं किया। आज्ञा हो, तो थोड़ा-सा गरम गरम दूध लाऊं।

महा०—विशेष क्षुधा तो नहीं। पर ऐसी ही आपकी भावना है, तो थोड़ा-सा ले आइए।

आज उनका मुखारविन्द कान्तिसे विकसित होरहा था। ऐसे तो सदा ही वहां मुस्क्यान बनी रहती थी, पर आज

कुछ विशेषता थी। नदीके तटपर सारा दिन शुद्ध वायुका सेवन तथा एकान्त ध्यान करते रहे थे। ताज़े जलसे पञ्च-स्नान करके उन्होंने भक्तकी श्रद्धाका अभिनन्दन करतेहुए दूध पी लिया और शान्त, गंभीर स्वरसे वेदमन्त्रोंका उच्चारण आरम्भ कर दिया। वह बल और वह मिठास! अद्भुत समय बंध रहा था। तनिक भी शोर न था।

(१) ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ ३७ ॥

अथर्व० १।१।१॥

अर्थ:—(ये) जो (त्रि-सप्ताः) तीन गुना सात (विश्वा) सारे (रूपाणि) रूपोंको (बिभ्रतः) धारण करतेहुए (परियन्ति) चारों ओर विचरते हैं। (वाचस्पतिः) सब विद्याओंकी रक्षा करनेवाला जगदीश्वर (तेषां) उनके (तन्वः) स्वरूपके (बला) बलोंको (मे) मुझमें (दधातु) धारण करे ॥ १ ॥

इस विस्तृत ब्रह्माण्डमें विद्यमान पदार्थोंका कोई अन्त है? परन्तु हमारेलिये तो जगत् सात ही प्रकारसे ग्रहण करने योग्य बन रहा है। पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि ही बाहिर और अन्दरके स्थूल भौतिक और सूक्ष्म विचारात्मक जगत्से हमारा परिचय कराते हैं। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे सारी सृष्टि तीन प्रकारकी होकर इन सात द्वारोंसे हमारे पास आतीहुई इक्कीस प्रकारकी बन जाती है। इसीमें सब लोक, सब काल, सब गुण, सब कर्म, जो कुछ है, आ जाता है। सारा बल, सारा पराक्रम, सारा प्रकाश इन्हींमें है। हे

जगदीश्वर, आप ज्ञानके अधिष्ठाता हो। कृपा करो कि हम इन भिन्न भिन्न प्रकारके पदार्थोंके तत्त्व और स्वरूपको ठीक ठीक समझतेहुए, उनके सार और बलको अपने अन्दर धारण करें। जैसे मधुमक्खी धत्तूरे और गुलाबको अपनेलिये उपयोगी बना लेती है, ऐसे ही हम भी सब पदार्थोंका यथायोग्य उपयोग करें। किसीसे घृणा न करें। किसीको तुच्छ न समझें। भगवन, आपकी अद्भुत रचनामें कोई वस्तु निरर्थक नहीं, कोई हानिकारक नहीं। हमारा अज्ञान ही अपराधी है। हे देवोंके देव, इस पर्देको हटाओ और ज्ञानका वर प्रदान करो। प्यारो, इस प्रकारकी भावना है, जिसके साथ प्रत्येक नर, नारीको अपने दैनिक कार्यका आरम्भ करना चाहिये।

(२) पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह। वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३८ ॥ ०—२ ॥

अर्थः—हे (वाचस्पते) सकल सत्य विद्याओंके नाथ ! (देवेन) प्रकाशयुक्त (मनसा) मनके साथ (पुनः) फिर (एहि) आओ। हे (वसोः-पते) सकल ऐश्वर्योंके स्वामिन, (निरमय) [नाशको] रोको [मेरी शक्तियोंको इधर उधर क्षीण मत होने दो] (मयि एव मयि) मेरे अन्दर ही (श्रुतं) सत्यशास्त्रोंके सुननेसे उत्पन्न सच्चा ज्ञान (अस्तु) विराजमान रहे ॥ २ ॥

अह ! नाथ, मैं सोगया था। मुझे अपनी यात्रा भूल चुकी थी। मार्गमें मुझे भंग चढ़ गयी थी। मैं बेहोश होरहा था। आओ आओ, देव, आओ। मेरे सोयेहुए मनको फिर

जगाओ। आओ, मेरे हृदयके स्वामिन, आओ। मेरे विज्ञानके कोषकी रक्षा करो। मेरा ज्ञान सदा उपस्थित रहे। मेरा आचरण तथा व्यवहार सदा उसके अनुसार हो। भगवन, मुझे विक्षेपोंसे बचाओ। मुझे कुमार्गोंसे हटाओ। ज्ञान-मन्दिरकी ओर मेरे पांवोंको बढ़ाओ। मेरी पूंजी बढ़े, कम न हो।

(३) इहैवाभिवितनूभे आर्त्नी इव ज्यया। वाचस्पति-र्नियच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३९ ॥　　　०—३ ॥

अर्थः—हे भगवन्! (इह) यहां [मेरे मनमें] (अभि-वि-तनु) खूब विस्तार करो। [ज्ञानद्वारा मेरे मनको फैलाओ] (इव) जैसे (ज्यया) चिल्लेद्वारा (आर्त्नी) [धनुषके] सिरोंको [खैंचा जाता है]। (वाचस्पतिः) सर्व विद्याओंका पति (नि-यच्छतु) [मेरे मनको] स्थिर करे, [ताकि] (श्रुतं) सुना-सुनाया [ज्ञान] (मयि एव मयि) अच्छी तरहसे मेरे अन्दर (अस्तु) रहे ॥ ३ ॥

जिस तरह कमान कसी जाती है, उसी प्रकार हमारा मन विस्तृत तथा कसाहुआ होना चाहिये। ज्ञानको स्थिर करें और बढ़ावें। ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! हमें अपने अनन्त भण्डारसे प्रकाश प्रदान कर।

(४) उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्। सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥ ४० ॥　०—४ ॥

अर्थः—[जब हमारेद्वारा] (वाचस्पतिः) वाणीका पति परमेश्वर (उप-हूतः) बुलाया जावे, [अर्थात् जब हम उसकी आराधना करें] (वाचस्पति) वाणीका पति (अस्मान्) हमें

(उप-ह्वयताम्) अपने समीप बुलावे । (श्रुतेन) ज्ञानके साथ (सं-गमेमहि) मिले रहें। [मैं] (श्रुतेन) ज्ञानसे [कभी भी] (मा) मत (वि राधिषि) पृथक् होसकूं ॥ ४ ॥

भगवान हमारी भावनाको देखता है। उसे दृढ़ करनेकी आवश्यकता है। बस, फिर तो बुलानेकी देर है। वह अवश्य हमारी टेरको सुनता है। हमें ज्ञान ही सबसे पहिले मांगना है। उसीके हम भिखारी हैं। हमारा सत्य-ज्ञानसे सदा सम्बन्ध बना रहे। कभी वियोग न हो। सज्जनो, यह भाव मनको उभारनेवाले, विद्यामें रुचि पैदा करनेवाले, आत्मविश्वासकी दृढ़ नींवपर उच्चतम आदर्शको स्थापित करनेवाले हैं।

(५) संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः । संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नियच्छतम् ॥४१॥ अथर्व० ७।५२।१॥

अर्थः—(नः) हमारा (स्वेभिः) अपने [और] (अरणेभिः) पराये लोगोंके साथ (संज्ञानं) मेल और इकट्ठा ज्ञान धारण करनेका व्यवहार हो। हे (अश्विना) अश्वियो ! (युवं) तुम (इह) यहां (अस्मासु) हमारे मध्यमें (संज्ञानं) मिलकर ज्ञान-प्राप्तिके व्यवहारको (नि यच्छतु) दृढ़ करो ॥ ५ ॥

परस्पर शान्तिका जबतक व्यवहार न हो, ज्ञानकी उन्नति हो नहीं सकती। लड़ाई और झगड़ेमें विद्याका प्रचार रुक जाता है। अतः जब वाचस्पति भगवान्से प्रार्थना करो, तो साथही अपने अन्दर सबके साथ मिलकर ज्ञानको उन्नत करनेकी भी धारणा दृढ़ करो। ज्ञानके कार्योंमें अपने और परायेके भाव मिटा दो। विद्या और ज्ञान सांझे ही समझने चाहियें। इसीमें

विद्वानोंकी शोभा और कीर्त्ति है। अश्वी, भूमि और आकाशके, सूर्य और चान्दके तथा अन्य कई शास्त्रप्रसिद्ध इकट्ठे मिलकर जगत्‌का उपकार करनेवाले देवताओंके जोड़ोंका सांझा नाम है। जैसे यह देवता मिलकर सारा सृष्टि-यज्ञ चला रहे हैं, मनुष्योंको चाहिये कि ज्ञान-यज्ञमें वे भी मिलकर आहुतियां डाला करें।

(६) सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन। मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥ ४२ ॥ ०—२ ॥

अर्थ:—(मनसा) मनकेद्वारा (सं-जानामहै) मिलकर ज्ञान प्राप्त करें, (चिकित्वा) ज्ञानकेद्वारा (सं) मिलकर [ज्ञानको उन्नत करें], (दैव्येन) चमकतेहुए (मनसा) मानसिक बलसे (मा युष्महि) हम अलग कभी न हों। (बहुले) बहुत (विनिर्हते) हानि होनेपर (घोषाः) [रोनेके] शब्द (मा) मत (उत् स्थुः) पैदा हों। (अहनि) दिनके (आगते) आनेपर (इन्द्रस्य) इन्द्रका (इषु) बाण (मा) मत (पप्तत्) गिरे ॥ ६ ॥

मनहो और चमकता हुआ मन हो। ज्ञानसे ज्ञान बढ़ता है। दीपकसे दीपक प्रकाशित होता है। ज्ञानवान् मनुष्य कौन है ? जो आपत्तिमें हाहाकार नहीं मचाता। उसका मानसिक कोष ऐसे आड़े समयोंके लिये विचित्र शक्तिका संचय किये रखता है। इन्द्रका बाण और वज्र किनपर गिरता है? जो परीक्षाके समय पूरे नहीं उतरते। अतः प्यारो, सर्वदा यह संकल्प करना चाहिये

कि हम प्रभुके आगे दण्डनीय न बनें। हम ज्ञानीहों और उसके नियमोंका पालन करनेवाले हों। साधारणतया दिन तो बीततेही जाते हैं। पर हर एक व्यक्तिके जीवनमें कभी २ विशेष दिन भी आते हैं। भगवान, हमारे ज्ञानकी उस समय, मानो, परीक्षा किया करता है। उस परीक्षाके लिये सदा तय्यारी करते रहना चाहिये। और सबसे उत्तम तय्यारी नित्य इस प्रकारसे सोये हुए अपने आपको चेतावनी दे २ कर जगानाही है।

(७) ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते। एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥४३॥ अथर्व ७।५४।१॥

अर्थः—[हम] (ऋचं) ज्ञानरूप स्तोत्र [तथा] (साम) शान्तिकारी उपासनाके गीतोंका, (याभ्यां) जिनके द्वारा [विद्वान् लोग] (कर्माणि) सब कर्म (कुर्वते) करते हैं, (यजामहे) धारण तथा पूजन करते हैं। (एते) यह (सदसि) सभा, [समाज आदि] में (राजतः) चमकते हैं (देवेषु) देवताओं तक (यज्ञं) यज्ञ [के फल] को (यच्छतः) पहुंचाते हैं ॥ ७ ॥

जो महानुभाव ज्ञान और उपासनाको समझकर कर्म करते हैं, उनको सफलता होती है। ऋचा ज्ञान बढ़ाने वाले स्तोत्र अर्थात् ऋग्वेदका संकेत है। इस वेदमें मुख्यरूपसे वर्णनात्मक ज्ञान है। साम भक्ति, शान्ति, उपासनाके मुख्य साधन सामवेदकी ओर संकेत है। दोनों जीवनको विकसित करनेके लिये आवश्यक हैं। मस्तक चमकताहो और हृदय प्रभुभक्तिके आनन्दसे उज्ज्वल रहाहो।

वेद भगवान्की यह शिक्षा है कि सभा, समाज तथा

परिषद् आदिमें इनकीही प्रतिष्ठा होनी चाहिये। वे समाज पूरी उन्नति नहीं कर सकते, जिनमें शारीरिक बल अथवा धनकी तो पूजा होती हो और विद्या तथा शान्त जीवनका निरादर होताहो। उच्च आदर्श यही है कि सुन्दर, सुडौल शरीरके अन्दर उज्ज्वल मन तथा विशाल, भक्तिसे रंगे हुए हृदयका निवास हो।

यज्ञ पूजा और उपकारका नाम है। ज्ञान और भक्तिकी वृद्धिका यह परिणाम होना चाहिये कि देवताओंका यज्ञके साथ संबंध जुड़ा रहे। जब जनतामें उनकी प्रतिष्ठा होगी, लोग उन्हें ध्यानसे सुनेंगे, वे भी प्रसन्न-चित्त होकर यज्ञकी साधनामें लगेही रहेंगे। अतः प्रातः उठकर ज्ञान और भक्तिकी महिमाको चित्तमें धारण करनेका अभ्यास करो।

(८) ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम्। एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥४४॥ ०—२॥

अर्थः—(यत्) क्योंकि [मैंने] (ऋचं) ऋग्वेद [तथा] (साम) सामवेदसे (हविः) आहुति (ओजः) पराक्रमप्रद सूक्ष्म वीरता (यजुः) कर्म-विधि [तथा] (बलं) बल [के स्वरूप] को [भली भान्ति] (अप्राक्षं) पूछ लिया [और जानकर जीवनयज्ञको आरंभ किया है।] (तस्मात्) इसलिये (शचीपते) हे सकल शक्तियोंके स्वामिन् जगदीश्वर, (एषः) यह (पृष्टः) पूछा हुआ (अर्थात्) गुरुकी तरह माना हुआ (मा) मुझे (मा) मत (हिंसीत्) मारे॥ ८॥

वेद सच्ची भक्ति तथा ज्ञानका उपदेश करता है। उसीके पाठसे वास्तविक बल और कर्मकी सूक्ष्मताका बोध होता है। जो

मानव उसका आश्रय लेकर जीवनके कार्योंको करता है, उसे विश्वास होना चाहिये कि मेरा किसी प्रकारसेभी नाश नहीं होसकता। प्रत्येक मनुष्यको प्रातः इस मंत्रका जाप करना चाहिये और दिन भर इसके अनुसार जीवन चलाना चाहिये।

सत्य०—महाराज, क्या वेद दो ही हैं, ऋग्वेद और सामवेद?

माया०—प्रसिद्ध तो चार हैं, यजुर्वेद और अथर्ववेदभी।

महा०—सत्य है, वेद चारभी हैं और एकभी है। चारों वेदोंके मंत्रोंको तीन भागोंमें विभक्त किया जाता है। वर्णनात्मक-स्तोत्रोंको ऋचाएं कहते हैं। भक्तिमें रस पैदा करनेवाली गीतियोंको साम कहते हैं। यजुओंद्वारा कर्मकाण्ड कियाजाता है। एकही मंत्र तीनों रूप धारण कर सकता है। कहीं ऐसाभी माना है कि यजु गद्यमय होते हैं, शेष पद्यमय। अब कर्म तो ज्ञान और उपासनाके मध्यमें आजाता है। ज्ञान उसकी प्रेरणा करता है। भक्ति उसका परिपक्व रस है। अतः यहां ऋग्वेद और सामवेदकाही संकेत किया है। और, अन्तमें सबको मिलाकर वेदकी एकताभी बता दी है।

वस्तु०—महाराज, जहां लोग वेद न जानते हों, वहां उनका कल्याण कैसेहो?

महा०—एकवार वेदके विचार चारों ओर फैल चुके हैं। लोगोंमें अभी तक कई सर्वतन्त्र सिद्धान्तोंका विश्वास पाया जाता है। सत्यको सभी पसन्द करते हैं। असत्यको सब बुरा कहते हैं। यह वैदिक सच्चाइयां हैं, क्योंकि वेदने सबसे पूर्व इनका प्रचार किया। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अब वेदसे लोगोंका परिचय प्रायः न होनेके तुल्यही है।

माया०—तो क्या करना चाहिये।

महा०—मेरा भाव यह है कि जब आपके हृदयमें वेदके प्रति श्रद्धा पैदा होजावे, तो फिर आप इसको इसी प्रकार आगे २ पहुंचाते जावें। हमारा इतनाही कर्त्तव्य है। अच्छा तो, मैं आपके सामने आज प्रतिदिनके जीवनको आरंभ करते हुए धारणा करने योग्य वैदिक भावनाओंको दर्शा रहा हूं। और, सुनिए।

(९) यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः। प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः॥ ४५॥

अथर्व० ७। ६१। १॥

अर्थः—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप, प्रभो! (यत्) क्योंकि [हम] (तपसा) तप द्वारा (तपः) तप [और] (तपः) तप (उप-तप्यामहे) अच्छी तरहसे तपते हैं। [इसलिये हमारी यह भावना है कि हमारा साधन सफलहो और हम] (श्रुतस्य) ज्ञानके (प्रियाः) प्यारे (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयुवाले [तथा] (सुमेधसः) तीव्र बुद्धिवाले (भूयास्म) होवें॥ ९॥

(१०) अग्ने तपस्तप्यामह उप तप्यामहे तपः। श्रुतानि शृण्वंतो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः॥ ४६॥ ०—२॥

अर्थः—हे (अग्ने) (वयं) हम (आयुष्मन्तः) दीर्घ काल तक जीते हुए (सुमेधसः) अच्छी बुद्धिवाले (श्रुतानि) ज्ञानकी बातोंको (शृणवन्तः) सुनते हुए (तपः) तप (तप्यामहे) तपते हैं, (तपः) तप (उप तप्यामहे) आपसे समीपका संबंध जोड़ कर तपते हैं॥ १०॥

सज्जनो, इन भावोंको सदा अपने हृदयमें स्थान देना होगा। तप तपनेका यह फल होना चाहिये कि हमारी आयु, बुद्धि और विद्या बढ़ें। हमारी रुचि मानसिक विकासकी ओर अधिक हो। और फिर, जब कुच्छ स्वाद आने लगे, तो फिर उसी साधनका सहारा पकड़ें और तप करें। अब ज्ञान तथा ईश्वरके अधिक समीप जाकर, विशेष साधना करें और अधिक लाभ प्राप्त करें। नित्य हमारा ज्ञानके प्यारोंसे मेलहो और हम स्वयंभी ज्ञानके प्यारे बनें। कितनी सुन्दर भावना है। नित्य अभ्यास करनेसे यह विचार स्वभावके अंग बन जाते हैं। हमारी मानसिक प्रकृतिही ऐसी बन जाती है। बाहिरका जीवन इसी चित्रको प्रतिबिंबित करने लग जाता है। अन्दर बाहिर एक होजाते हैं।

(११) शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति। मा ते युयोम संदृशः ॥ ४७ ॥ अथर्व० ७। ६८। ३ ॥

अर्थः—हे (सरस्वति) विद्यामयि देवते! (नः) हमारे प्रति (शिवा) मंगलरूप (शंतमा) अतिकल्याणकारी तथा (सुमृडीका) सुख देनेवाली (भव) होवो। [हम] (ते) तेरे (संदृशः) खुले दर्शनसे [कभी भी] (मा) मत (युयोम) वंचित रहें ॥ ११ ॥

हे भगवति, सत्यज्ञानरूपे, सरस्वति! सदा अपने दर्शनोंसे कृतार्थ करती रहो। वेद अपने भक्तोंको कितना विद्यासे प्रेम करना सिखाता है? कोई विज्ञानका घातक वैदिकधर्मी नहीं समझा जासकता। सच्चा आर्य सदा विद्या और प्रकाशका पक्ष-पोषक होना चाहिये।

(१२) सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने। सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यंदात् ॥४८॥

अथर्व० १८ । ४ । ४५ ॥

अर्थः—(देवयन्तः) देवताओंकी कामना करतेहुए [भक्त-लोग] (सरस्वतीं) सरस्वतीको (हवन्ते) बुलाते हैं, (अध्वरे) [सारे संसारकी रक्षा करनेवाले] यज्ञके (तायमाने) विस्तारके होनेपर (सरस्वतीं) सरस्वतीको [याजक लोग बुलाते हैं] । (सुकृतः) पुण्यात्मा (सरस्वतीं) सरस्वतीको (हवन्ते) बुलाते हैं । (सरस्वती) सरस्वती (दाशुषे) दानशीलको (वार्यं) बल (दात्) देती है ॥ १२ ॥

सरस्वतीकी आराधनाके विना न विद्वान् प्रसन्न होते हैं, न प्रभु निहाल करते हैं और न ही भौतिक शक्तियां पूरा लाभ पहुंचाती हैं । साधारण मनुष्यकेलिये आग केवल पानी गरम करती और रोटी पकाती है, परन्तु विज्ञानी क्या का क्या बना डालता है । यज्ञोंका पूरा पूरा फल, सूक्ष्म तत्त्व-विद्या और आध्यात्मिक-ज्ञानके विना प्राप्त नहीं होसकता । यह सरस्वती ही है जो भले, बुरेकी पहचान बताती है । और, प्यारे सज्जनो, सरस्वती ही दानीके अन्दर ऐसा बल देती है कि वह सब कंजूसी और संकोचको त्यागकर दरिद्रोंकी पालनामें लग जाता है । वह पात्र कुपात्रका विवेक कर, सुदानको अपना भूषण बनाता है । अधिक क्या, जो कुच्छ भी भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् है, वह इसी सर्वप्रकाशक, बलोंके बलके सहारे चलता है । यह प्रभुका दिव्य स्वरूप है । यही मधुर प्रसाद है, जिसकी भगवान्‌के भक्त सदा कामना करते हैं ।

भूषण और अलंकार हैं। वे वास्तवमें हमारे जीवनके आधार हैं। उनके बिना हमारी दशा उन सूखी हुई, पुरानी नदियोंके समान शोचनीय हो जाती है, जहां अब पानी नहीं आता।

लोक०—महाराज, ऐसे गुरु कहांसे आवें?

महा०—बेटा, प्रभुकी रचनामें सब सामान मौजूद हैं। पुरुषार्थ करनेपर प्रत्येक बात सिद्ध हो जाती है। प्यारे, क्या तुम प्रयत्न करो, तो ऐसा जीवन धारण नहीं कर सकते?

लोक०—हमारे ऐसे भाग्य कहां?

महा०—यही तो तुम्हारी भूल है। वेद प्रत्येक व्यक्तिके सामने एक जैसी बात रखता है। जो उसपर फूल चढ़ावेगा, वही तर जावेगा। मनको उज्ज्वल करो। बुद्धिको तीव्र करो। अपने आपको जगाओ। नींदको त्यागो। सरस्वतीकी आराधना करो। भगवान्का ध्यान करो। भावनाको दृढ़ करो। यही मार्ग है। इसपर चले चलो। यात्रा लम्बी है। भय मत करो। एक दिन चोटीपर चढ़ जाओगे।

सत्य०—महाराज, बड़ा ऊंचा आदर्श है। यात्रा बड़ी लम्बी है। मार्गमें कोई सहायक दिखाई नहीं देता।

महा०—अरे, भोले भाई, जब मार्गपर मनुष्य पड़ता है, तो कई अपने जैसे साधक मिल जाते हैं। परस्पर हाथ बटाते हुए, दूसरेकी सहायता करतेहुए चले चलो। अकेले हो, तब भी चिन्ता मत करो। ठीक साधन-सम्पत्तिको पैदा करो। आज जो विचार बताये हैं, उनका निरन्तर चिन्तन किया करो। कलसे उन साधनोंका वर्णन करूंगा, जिनको धारण करके इस प्रकारका यह सरस्वती-जागरण तुम्हारेलिये सदा सहारा बना रहेगा।

अथ मार्गप्रदर्शनो नाम

तृतीय उच्छ्वासः ।

चमकतेहुए दीपकका जो सहारा मिलता है, वही हमारी दशामें उच्च पुरुषोंके जीवनोंके पाठका समझो।

सत्य०—महाराज, प्रत्येक मनुष्यमें कोई न कोई दुर्बलता पायी जाती है। क्या इस कारणसे विषयुक्त अन्नकी तरह यह आपका बतायाहुआ साधन हानि तो न करेगा?

माया०—तो क्या सब ऋषि, मुनि और महात्मा दुर्बलतासे दूषित थे। कोई सोलह कला सम्पूर्ण पुरुष नहीं हुआ?

महा०—प्यारो, पूर्णता तो प्रभुका ही नाम है। देहधारी मनुष्यमें तो राग, द्वेष, मोह आदि द्वारा कभी न कभी निर्बलता आ ही जाती है। हमारी अवस्था तो कढ़ाईपर चढ़ायेहुए दूधके समान उबालोंसे भरी हुई है। परन्तु जो सच्चे साधक होते हैं, वे इससे घबराते नहीं। वे इस रहस्यको समझतेहुए दिन रात साधनमें लगे रहते हैं। गिर गिरकर ही तो सवार पक्का होता है। मूर्ख वह है जो गिरताहुआ अपनी गिरावटको नहीं जानता। विद्वान् उसे ख़ूब समझता है और सदा यत्नशील बना रहता है। हम सब साधक हैं। हमारेलियें इन महापुरुषोंकी गिरावट और फिर उनका सम्भलना, ऊपर उठना और चमकना शिक्षासे भराहुआ होता है। हमारे अन्दर पूरी सहानुभूति पैदा होती है और अपने मनको उसी अवस्थामें लाकर हम अनुभव करने लगते हैं कि सारी घटना हमारे साथ ही बीत रही है।

उप०—महाराज, महापुरुषोंके जीवनका निचोड़ क्या है?

महा०—उपरामजी, धारणाकी दृढ़ता और अपने सामने सदा ऊंचा लक्ष्य रखे रहना ही सब महापुरुषोंका सामान्य चिह्न

है। वे कहीं पैदा हुए हों, उनके सामने कितनी ही भिन्न भिन्न समस्याएं रही हों, यह गुण उनमें सदा चमकता रहा है। इसके बिना वे कभी अपने जीवनको हमारेलिये शिक्षाका स्रोत न बना सकते। इसी विषयमें आज वेद-सन्देश भी सुनिये। देखो, वेदभगवान् किस प्रकारसे संकल्प और धारणाको दृढ़ करनेकी प्रेरणा करता है।

(१) सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५१ ॥　　अथर्व० २। ११। ४॥

अर्थः—[तुम] (सूरिः) प्रेरणासे युक्त (असि) हो, (वर्चः-धाः) प्रकाशके धारण करनेवाले (असि) हो, (तनू-पानो) शरीरकी रक्षा करनेवाले (असि) हो। (श्रेयांसं) [वर्त्तमानसे] अधिक अच्छी [अवस्था] को (आप्नुहि) प्राप्त होवो। (समं) [अपने] तुल्यसे (अति-क्राम) बढ़ो ॥१॥

(२) शुक्रोसि भ्राजोसि स्वरसि ज्योतिरसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५२ ॥　　अथर्व० २। ११। ५॥

अर्थः—[तुम] (शुक्रः) प्रकाशयुक्त (असि) हो, (भ्राजः) दीप्तियुक्त (असि) हो, (स्वः) सुगतिवाले [सुखस्वरूप] (असि) हो, (ज्योतिः) चमक (असि) हो। (श्रेयांसं) [अपनेसे] अच्छेको (आप्नुहि) प्राप्त होवो। (समं) [अपने] तुल्यसे (अति-क्राम) ऊपर उठो ॥ २ ॥

यह भाव हैं, जिनका चिन्तन सब साधकोंको अपने सम्बन्धमें सदा करना चाहिये। हम प्रेरणासे युक्त हैं। हमारे हृदयमें सरस्वतीका मानस-सरोवर थलक-थलक कर रहा है।

हम अन्धेरेमें विचरनेवाले चमगादड़ और उल्लू आदिकी तरह तुच्छ जन्तु नहीं। हमारा आगा और पीछा प्रकाशसे सदा युक्त है। हम संसारके गगन-तलपर चमकतेहुए तारे हैं। शरीर दुर्बल न रहेगा। मन निर्बल न रहेगा। हम अपने बलसे अपने साधनोंको बलवान् बनाएंगे, और वर्त्तमान अवस्थासे ऊपर उन्नत दशाको प्राप्त करेंगे। हम ऐसे ही पड़े क्यों सड़ेंगे। हमारे साथी आगे निकल रहे हैं। हम उनसे भी आगे निकलेंगे। हमारा उत्साह और पुरुषार्थ सदा हमारा साथ देगा। हम विजयकेलिये आये हैं। कभी पराजित होकर पीठ न दिखावेंगे। पाप-स्वभाव शत्रु हमारे साथ टाकरा न लगावें। हमारा वेद हमें क्या सिखाता है?

(३) इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत् त्वा हृदा शोचता जोहवीमि। वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ५३ ॥ अथर्व० २।१२।३॥

अर्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यके स्वामिन्, (सोम-प) [प्रेरणा करनेवाली] सोम [आदि वस्तुओं] के रक्षक! (यत्) जब (त्वा) तुझे (शोचता) शोकातुर (हृदा) हृदयद्वारा (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूं, [तो मेरे] इस [निश्चय] को [भी] (शृणुहि) सुन लेना। (यः) जो (अस्माकं) हमारे (इदं) इस (मनः) मनको (हिनस्ति) मारता है, (तं) उसे (वृश्चामि) [मैं] काट डालूंगा, (इव) जैसे (वृक्षं) वृक्षको (कुलिशेन) कुल्हाड़ेसे [काट डालते हैं]॥ ३॥

हमारे अन्दर आत्म-विश्वास होना चाहिये कि कोई

हमारी मानसिक हत्या नहीं कर सकता। हम सत्यके भक्त हैं और सत्यपर ही डटे रहेंगे। जो हत्यारा हमारे मार्गमें खड़ा होनेका साहस करेगा, उसे अपने नाशके लिये तय्यार रहना चाहिये।

(४) द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वेदेवासो अनु मा रभध्वम्। अंगिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छ-त्वपकामस्य कर्त्ता ॥ ५४ ॥ अथर्व०—५ ॥

अर्थः—हे (द्यावा-पृथिवी) भूमि और आकाश, (मा) मेरे (अनु) ऊपर (दीधीथां) प्रकाश करो, हे (विश्वेदेवासः) सकल देव-समूह! (मा) मुझे (अनु-रभध्वं) पूरा पूरा सहारा दो। हे (अंगिरसः) प्राणबलसे युक्त, (पितरः) सबकी रक्षा करनेवाले, (सोम्यासः) सौम्य स्वभाववाले विद्वानो! (अपकामस्य) बुरी कामनाका (कर्त्ता) करनेवाला (पापं) हानिको (आर्छतु) प्राप्त हो ॥ ४ ॥

कितना सुन्दर विवेक कर दिया है। प्रत्येक आर्यको इस बातका विश्वास होना चाहिये कि पापका फल बुरा ही होता है। उसे अपने हृदयमें प्राकृतिक और सामाजिक देवताओंकी संगतिद्वारा इतना बल पैदा करना चाहिये कि जैसे समुद्रकी प्रबल लहरें चटानोंके साथ टक्करें मार-मारकर रह जाती हैं, ऐसे ही हमारे अन्दर और बाहिरके शत्रु उबल-उबलकर झाग होजावें, पर हमारा कुच्छ न बिगाड़ सकें।

(५) मह्यं यजन्तु मम यानि हव्याकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु। एनो मा निगां कतमच्चनाहं विश्वेदेवासो अधि वोचता नः ॥ ५५ ॥ ऋक्० १०। १२८। ४॥

अर्थ:—(मम) मेरे (यानि) जितने (हव्या) यज्ञ [कियेहुए हैं, वे] (मह्यं) मुझे (यजन्तु) [इष्ट फलके साथ] जोड़ दें, (मे) मेरे (मनसः) मनकी (आकूतिः) भावना (सत्या) सच्ची (अस्तु) हो। (अहं) मैं (कतमत्-चन) किसी भी (एनः) पापमें (मा) मत (नि-गां) फंसूं, (विश्वे-देवासः) सारे देवता (नः) हमें (अधि-वोचत) शिक्षा तथा सहायता देते रहें ॥ ५ ॥

यज्ञमें हविका डालना आध्यात्मिक त्यागका संकेत है *। जो इस गूढ़ मर्मको समझ कर करता है, उसका यज्ञ उसके लिये पूर्ण फलका दाता होता है। जीवनमें सफल होनेका यह एक चिह्न है कि हमारी मानसिक भावनायें सच्ची हों। धारणा इतनी धर्मानुसार तथा दृढ़ हो कि उसका परिणाम सदा अच्छा ही निकले। इसीका नाम सिद्धि है। सदा यह विचार सम्मुख रखना चाहिये कि हम किसी प्रकारके पापके फंदेमें न फंसें। पापके असंख्यरूप हैं। पूर्व कहे प्रकारसे सरस्वती-जागरण-द्वारा पुण्य और पापमें विवेक करते हुए, पापसे बचनेका संकल्प दृढ़ करते रहें। इसका मुख्य उपाय सत्संगति है। इसलिये वेद भगवान् इसीपर अन्तिम पादमें विशेष बल देता है। भौतिक देवता चुप चाप उपदेश कर रहे हैं। लेने वालो, कुछ ले लो। सामाजिक देवता वाणीसे बोलते हैं, पर उससे भी अधिक अपने व्यवहार तथा आचरणसे बोलते हैं। धन्य हैं वे नर नारी, जिनके कान इन देवताओंके पवित्र

* इस विषयका विस्तार देखो, वैदिकाश्रम ग्रन्थमाला संख्या २, देव यज्ञप्रदीपिकाके अन्दर।

शब्दोंसे नित्य शुद्ध होते रहते हैं। यह मानसिक तथा आत्मिक भोजन है, इसके विना शरीरके कार्योंके चलतेहुए भी हम मुरदे हो जाते हैं॥

(६) पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः॥ ५६॥

अथर्व० ७। १००। १॥

अर्थः—[मैं] (दुः-स्वप्न्यात्) बुरे स्वप्नकी दशासे (स्वप्न्यात्) स्वप्नमें होनेवाले (पापात्) पापसे (अभूत्याः) [सर्व प्रकारकी] मन्द अवस्थासे (परि-आवर्ते) वापिस लौटता हूं। (अहं) मैं (ब्रह्म) वैदिकज्ञान तथा ध्यानको (अन्तरं) ओट (कृण्वे) बनाता हूं। (स्वप्नमुखाः) स्वप्नमें दिखाई देनेवाले (शुचः) शोकोंको (परा) दूर [करता हूं) ॥ ६ ॥

स्वप्न क्या है? जागृतका ही उलटा सीधा नाच है। दिनके भाव तथा संकल्प स्वप्नावस्थामें आ दबाते हैं। अनेक वार हम व्याकुल हो चौंक उठते हैं *। अनेक प्रकारके उस समय पड़े-पड़े पाप करते और फल भोगते हैं। यह हमारे जीवनके टेढ़ेपनका चिह्न है। वेदका उपदेश है, ज्ञान और ध्यानको, वेद और ओंकारके जापको ओट बनाकर अपनी रक्षा करो। दीवारकी ओटमें धूपके तापसे जैसे बच सकते हो, छातेकी ओटमें वर्षाकी बूछाड़से जैसे बच सकते हो, ऐसे ही विश्वास रखो कि वैदिक-विचारोंकी सहायतासे स्वप्नके दुःखों

---

* इसके साथ देखो, वेद-सन्देश, प्रथम-भाग, द्वितीय-संस्करण, पृष्ठ-संख्या ३०—३३।

और उनके मूलकारण, जागृतके कुसंस्कारोंकी मारसे बच सकते हो। सज्जनो, सोनेसे पूर्व यह भावना करो कि हम प्रभुकी छत्र-छायामें निवास करते हैं, हमें कोई भय नहीं, कोई दुःख नहीं। निद्रा अच्छी आवेगी और जिस अशान्तिकी ओर वेद इशारा कर रहा है, उससे छूट जाओगे।

(७) अप्रक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्त्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ ५७ ॥

अथर्व० ७ । १०५ । १ ॥

अर्थ :—(पौरुषेयात) मनुष्यसम्बन्धी [साधारण दुर्बलताओं, विकारों तथा पाशव-व्यवहारों] से (अप्रक्रामन्) दूर रहकर (दैव्यं) देवताओंके (वचः) शब्दको (वृणानः) ग्रहण करतेहुए (विश्वेभिः) सारे (सखिभिः) साथियोंके (सह) साथ [हे साधक] (प्रणीतीः) अच्छी नीतियोंका (अभ्यावर्तस्व) अच्छी तरह से पालन कर ॥ ७ ॥

सज्जनो, यहां वेद भगवान् मनुष्य और देवतामें विवेक करताहुआ बतलाता है कि मनुष्य ही अपनी पाशविक-प्रवृत्तिका त्याग करके और दिव्य सम्पत्तिको धारण करके देवता बन जाता है। देवता कोई अलग सृष्टि नहीं। जो जो विद्वान् होकर ऊपर उठ जाता है, वही देवता कहलाता है। हां, वेद यह स्पष्ट कहता है कि अच्छे प्रकारसे जीवनका चलाना अत्यावश्यक है। देवताओंकी वाणी ज्ञानकी वाणी है। वेदका पवित्र वचन दिव्य वचन है। परन्तु इसका ग्रहण करना ही पर्याप्त मत समझो। वीर, धीर होकर, शनैः शनैः उसमें कहे उपदेशोंपर चलो।

अन्तमें वह बात कही है जिसे वर्त्तमान आर्य-लोग सर्वथा भूल चुके हैं। हम अब समझते हैं कि चोरी, डाका आदि कुकर्म ही मिलकर होते हैं। पर नहीं, वेद भगवान्का यह आशय है, कि अच्छे कार्य भी मिलकर ही सफल होते हैं। सारे सन्मार्गके साधक परस्पर सहायक होकर अपना और दूसरोंका कल्याण करते हैं। नेकी और भलेका संगठन ही तो सब सामाजिक रोगोंका एकमात्र औषध है।

(८) यदस्मृति चकृम किंचिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः। ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥ ५८ ॥ अथर्व० ७। १०६। १॥

अर्थः—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप (जातवेदः) सबके जाननेवाले भगवन्! (यत्) जो (किंचित्) कुछ [अनिष्ट] (अस्मृति) भूलके कारण [हमने] (चकृम) कर डाला है, (चरणे) व्यवहारमें (उपारिम) चूक की है, (ततः) उस [भूल-चूक] से हे (प्रचेतः) उत्तम ज्ञानवाले, (नः) हमें (पाहि) बचा। (शुभे) कल्याणकेलिये (नः) हम [तेरे] (सखिभ्यः) मित्रोंकेलिये (अमृतत्वं) अमृतपद (अस्तु) हो ॥ ८ ॥

प्यारो, यह वही बात है, जिसका आज आरम्भमें इशारा किया जाचुका है। मनुष्यसे किसी न किसी प्रकारसे भूल-चूक होती ही रहती है। तो क्या ऐसी अवस्थामें वह डूब मरे। वेदका धर्म इसके विरुद्ध है। परमात्माकी मित्रतासे मन्द संस्कार शनैः शनैः अच्छे होजाते हैं। इसी आशयसे वेद भगवान् कितना बड़ा आश्वासन देता है, जब भूले, भटके लोगोंके

सामने भी वह अमृतपदकी प्राप्तिका ऊंचा आदर्श रखता है। क्यों न हो, मनुष्यके आत्मामें तो कोई विकार नहीं आसकता। यह तो अन्तःकरणका ही आवरण है। सच्चे ज्ञान और भगवान्के प्रसादसे जब वह दर्पण निर्मल हुआ, तो बस सब कल्याण ही कल्याण है। अतः सच्चे साधकोंको कभी हताश और निराश न होना चाहिये। भावनाको स्थिर करके लगे रहना चाहिये।

(९) आकूतिं देवीं सुभगां पुरोदधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु। यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥ ५९ ॥ अथर्व० १६।४।२॥

अर्थः—[मैं] (देवीं) प्रकाशमान (आकूतिं) मानसिक विचारमयी भावनाको, [जो कि] (सुभगां) ऐश्वर्यकी दात्री है, (परः-दधे) सम्मुख रखता हूं, [वह] (चित्तस्य) चित्तकी (माता) माता (नः) हमारेलिये (सुहवा) बुलानेमें आसान (अस्तु) हो। (यां) जिस (आशां) आशाको (एमि) लक्ष्य बनाऊं, (सा) वह (केवली) पूर्णरूपसे (मे) मुझे (अस्तु) प्राप्त हो। (एनां) इसे (मनसि) मनमें (प्रविष्टां) प्रविष्ट हुई-हुईको (विदेयम्) पाऊं ॥ ६ ॥

दृढ़ भावना ही चित्तकी सम्पूर्ण शक्तियोंके विकासके करनेवाली माता है। इसीके बलसे हम अपनी सब आशाओं और कामनाओंको पूरा करते हैं। भावना दृढ़ हो, तो समझो कि हृदयमें वह आशा पहिले ही पूरी होचुकी है। स्थूलप्राप्ति चाहे पीछे हो, परन्तु अपने अन्दर इतना विश्वास होता है कि

सूक्ष्मरूपसे प्राप्तिका आनन्द पहिलेसे ही आरहा होता है। प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि इस मानसिक शक्तियोंकी माताकी ठीक ठीक पूजा करना सीखे। इसके विना मार्गका खुलना अति कठिन होगा।

(१०) आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपागहि।
अथो भगस्य नो धेह्यथो नः सुहवो भव ॥६०॥ ०—३॥

अर्थः—हे (बृहस्पते) सब विद्याओंके पालक देव! (नः) हमें (आकूत्या) सर्व विद्याओंकी सारमयी भावनाके साथ (उपागहि) प्राप्त होवो। (अथ-उ) और (नः) हमें (भगस्य) ऐश्वर्य (धेहि) धारण करा (अथ-उ) और (नः) हमारेलिये (सुहवः) आसानीसे बुलाये जासकनेवाले (भव) बनो ॥१०॥

सज्जनो, वह कौनसा ऐश्वर्य है, जिसे यह आकूति देवी नहीं दिला सकती। अघटित घटनाओंको घटानेवाली, आश्चर्यरूप चमत्कारोंकी करानेवाली, पशुसे मनुष्य और मनुष्यसे देवता बनानेवाली, निद्राको जागृति और जागृतिको पुरुषार्थमें बदलनेवाली, इस देवीकी सदा आराधना करते रहना। इसे अपने हृदय-मन्दिरमें आदरका स्थान देना। यह सब ऐश्वर्यों और कोषोंकी ताली है। यह भगवानके चरणोंके साथ हमारे चित्तोंको जोड़नेवाली सुनहरी डोरी है। यह मानवी शक्तियोंकी महाशक्ति है। प्यारो, इसका साथ दो और इसकी सहायता लो। देखो, यह क्याका क्या बना देती है। तुम उन्नतिके मार्गके पथिक हो। अच्छी बात है। वेद तुम्हें उपदेश करता है कि सबसे पहिले अपनी धारणा पक्की करलो।

ललकारकर कह दो कि हमारे साथ तुम्हारी मित्रता न हो सकेगी। कोई तुम्हारा संबंधी पापी है, तो उसके पापको निकाल दो। वह व्यक्ति घृणा करने योग्य नहीं। उसपर दया करो और सदा उसका सहारा बनो। सुनिये, वेद भगवान्‌के शब्द तो बड़े स्पष्ट ही होते हैं।

(१) न बहवः समशकन्नार्भका अभिदाधृषुः। वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः॥ ६१॥

अथर्व० १। २७। ३॥

अर्थः—(बहवः) बहुत से [मिले हुए कुच्छ] (न) नहीं (सम-अशकन्) कर सके, (न) नहीं (अर्भकाः) थोड़े (अभि) सामने (दाधृषुः) खड़े हो सके। (वेणोः) बांसकी (अद्गाः इव) सूखी शाखाओंकी तरह (अघायवः) पापी लोग (अभितः) दोनों तरहसे (असमृद्धाः) असफल रहे हैं॥ १॥

हरा २ बांस बढ़ता हुआ दिखाई देता है, पर किनारोंपर पड़ी हुई शाखाएं कुच्छ कालके पीछे न बढ़ती हैं और न फूलती हैं। इसी प्रकार पापीका जीवन सूखे बांसकी तरह नीरस है पापी लोग चाहे मिल २ कर समूह बनावें और चाहे अलग २ अनर्थ किया करें, उनका कल्याण नहीं हो सकता। पापका परिणाम सदा बुरा ही होता है। इसलिये हम पापका साथ छोड़ते हैं। इसे अगले मंत्रमें खोलकर कहा है।

(२) दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः। दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि॥ ६२॥

अथर्व० ४। १७। ५॥

अर्थः—(हम) (असमत्) अपने अन्दरसे (दौष्वप्न्यं) बुरे सोनेको (दौर्जीवित्यं) बुरे जीवनको (रक्षः) राक्षसी भावको (अभ्वं) अनर्थको (अराय्यः) कंगलेपनोंको (सर्वाः) सारी (दुर्-नाम्नीः) बुरे नामोंवाली (दुर्-वाचः) बुरी वाणियोंवाली [पाप-वृत्तियों] को (नाशयामसि) नाश करते हैं ॥ २ ॥

उस पक्की धारणाको अब लगा दो। इन निन्दित बातोंमेंसे तुम्हारे अन्दर कोई प्रवेश न कर सके। दिन भर अच्छा कर्म करो, ताकि नींद अच्छी आवे। राक्षसी भावोंका त्याग करो। सदा अच्छे विचारोंको बढ़ाओ और बुरी वृत्तियोंको दबाते रहो। क्यों सत्यकाम, अब तो सड़क दिखाई देती है ?

सत्य०—हां, महाराज ! वह तो मेरी घबराहट ही थी।

महा०—और सुनते चलिये।

(३) अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति ।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ॥ ६३ ॥

अथर्व० ४। १८। ३ ॥

अर्थः—(यः) जो (अमा) अपने हां (पाप्मानं) पापको (कृत्वा) करके (तेन) उसके द्वारा (अन्यं) दूसरेको (जिघांसति) हानि पहुंचाना चाहता है, [वह भूलकर रहा है, शीघ्र ही] (तस्यां) उसकी शक्तिके (दग्धायां) नष्ट हो जानेपर (बहुलाः) बहुतसे (अश्मानः) पत्थर [उसके सिरपर] (फट् करिक्रति) फट् २ करके गिरगे हैं ॥३॥

पापी दूसरोंकेलिये घरपर अनिष्ट सोचता और गढ़े खोदता है पर, मूर्ख जानता नहीं कि पर्देके पीछे उसका नाश

कितना समीप होकर उसपर घूर रहा है। कुच्छ समय तक तो प्रतीत होता है कि पापीके कार्य सिद्ध हो रहे हैं पर, वेद यह विश्वास दिलाता है कि पापका अन्त बुरा ही है *।

(४) सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्। अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥ ६४ ॥ अथर्व० ५।६।७॥

अर्थः—(सूर्यः) सूर्य (मे) मेरी (चक्षुः) आंख है, (वातः) वायु (प्राणः) प्राण है, (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (आत्मा) है, (पृथिवी) (शरीरं) शरीर है। (अहं) मैं (नाम) वस्तुतः (अस्तृतः) न ढका हुआ (अयं) विद्यमान (अस्मि) हूं। (सः) वह (मैं) (आत्मानं) अपने आपको (गोपीथाय) इन्द्रियोंकी पूर्ण उन्नतिकेलिये (द्यावा-पृथिवीभ्यां) भूमि और आकाशके सामने (निदधे) रखता हूं, [वे मुझ पर पूरा प्रभाव डालें] ॥४॥

पापमें अरुचि पैदा करके वेद साधकको उपदेश करता है कि वह अपने अन्दर पूर्ण शक्तिकी लहरको अनुभव करे।

---

* मनुमहाराजने भी इस भावका विस्तार किया है, देखो,

" न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशुपश्यन्विपर्ययम् ॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥
अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥
मनु० ४।१७१,१७२, १७३॥

विस्तृत भौतिक देवताओंके सामने निवास करताहुआ, विशेष शक्ति और बलका संग्रह करे। उसे विश्वास होना चाहिये कि अब पाप मुझे दबा नहीं सकता । पूर्व त्रुटियोंके कारण जो जो कमी होगयी है, उसे अब पुनः पूर्ण करनेका यत्न करे। प्रकृतिके सुन्दर उद्यानमें शुद्ध जल और वायुका सेवन करे और धार्मिक भावोंको उन्नत करे। यह सब रोगोंको दूर करनेवाली दिव्य ओषधि है। हमारे चारों ओर पवित्रतासे युक्त होकर सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, पृथिवी और अग्नि आदि भूत संसारका उपकार कर रहे हैं। सज्जनो, देखो, वेदका उपदेश है कि मनुष्य अपने इर्द-गिर्दकी अद्भुत रचनाके साथ इस पवित्रताको ग्रहण करनेकेलिये पूर्णतया एकजान होकर रहे। सुनो।

(५) पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ ६५ ॥

अथर्व० ६ । १९ । १ ॥

अर्थ:—(मा) मुझे (देवजनाः) देवजन (पुनन्तु) पवित्र करें। (मनवः) मननशील विद्वान् (धिया) बुद्धिद्वारा (पुनन्तु) पवित्र करें। (विश्वा) सारे (भूतानि) भूत (पुनन्तु) पवित्र करें। (पवमानः) पवित्र करनेवाला भगवान् (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे ॥ ५ ॥

परमेश्वर तथा उसकी सोमादि विभूतियां तो सदा पवित्र करती ही रहती हैं । मनुष्य अपनी अविद्याके कारण उनके अच्छे प्रभावसे वञ्चित रहता है। पूर्व कहे प्रकारसे अन्धकारको दूर करना तथा इन शक्तियोंसे लाभ उठानेका

संकल्प दृढ़ करना ही इस प्रार्थनाको सिद्ध करनेका मुख्य साधन है।

(६) पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये ॥ ६६ ॥ ०—२ ॥

अर्थः—(पवमानः) पवित्र करनेवाला भगवान् (क्रत्वे) पुरुषार्थ (दक्षाय) बल (जीवसे) जीवन-शक्ति (अथ-उ) और इसी प्रकार (अरिष्टतातये) आरोग्यके [लाभके] लिये (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे ॥ ६ ॥

हम पवित्र क्यों हों? इस प्रश्नका वेद भगवान् कितना पूर्ण उत्तर देता है। पवित्र रहनेसे शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य बढ़ता है। स्वस्थ शरीरके अन्दर स्वस्थ मनका निवास हो और उसमें शुद्ध जीवात्मा रहकर जीवन-यात्राको पूरा करे, तो क्यों न उसका लक्ष्य पूरा हो? अपवित्र रहनेसे न केवल शरीरको रोग दबाते हैं, वरन् बुद्धिपर भी आवरण आजाता है। यह पवित्रता स्थायीरूपको कैसे धारण करे? इसका उत्तर सुनो।

(७) उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥ ६७ ॥ ०—३ ॥

अर्थः—हे (देव) प्रकाशस्वरूप (सवितः) प्रेरणा करने वाले भगवन्! (पवित्रेण) पवित्र करनेवाले [अपने तेज] (च) और (सवेन) प्रेरणा [तथा पुरुषार्थ] (उभाभ्यां) दोनोंकेद्वारा (अस्मान्) हमें (पुनीहि) पवित्र कर, [ताकि] (चक्षसे) [हम अपने मार्गको ठीक ठीक] देख सकें ॥ ७ ॥

पानीका कुआं भरा पड़ा है। ऊपर सूर्यका प्रकाश नित्य होता है। परन्तु लोगोंने पुरुषार्थ छोड़कर नलके लगवाकर, कुएंसे पानी निकालना बन्द कर दिया है। आपको पता है, वह पानी समय पाकर सड़ने लगेगा। सूर्यका तेज पवित्र करनेवाला है। पर वह पर्याप्त नहीं। पानी निकलता रहेगा, तो कुआं शुद्ध रहेगा। यही अवस्था तालाबकी है। पुराना पानी निकालो, नया डालते रहो। सज्जनो, यही तुम्हारे शरीरकी बात है। आजका भोजन खाया जाकर अपना कार्य करके शरीरमें रच जाता है। स्वस्थ रहना चाहो, तो यह अवश्य होगा कि शरीरके सर्व प्रकारके मलका बाहिर निकास हो और नयी आवश्यकताओंकेलिये नया भोजन अन्दर जाये। यही अवस्था मानसिक सरोवरकी है। आज एक बालक पढ़ने बैठता है। घरमें सम्बधियोंके आयेहुए पुराने पत्रों और चिठ्ठियोंको भी बहुमूल्य पुस्तकें और विद्याके चिह्न समझकर पाठशालामें अपने बालोपदेशके साथ बांधकर लेजाता है। कुछ वर्षोंके पीछे उसके मेजके नीचे पड़ीहुई रद्दीकी टोकरीमें वैसे ही फाड़-फाड़कर फेंकेहुए पत्रोंको उसका लड़का या छोटा भाई उठा रहा होगा।

वेद भगवान् कितनी सचाईको प्रकट करता है। प्रकाश भी चाहिये और नई प्रेरणाभी चाहिये। तभी दृष्टिका विस्तार होता है। नयी २ बातोंका ज्ञान होता है। अनुभव बढ़ता है। पवित्र और अपवित्रका असली भेद खुलता है। अज्ञानवश हम कई वस्तुओंमें अपवित्रताकी भावना किये होते हैं। ज्यों २ अनुभवमें उन्नति होती है, अपनी भूलका पता लगता जाता है।

इसलिये पवित्र बनो और पवित्र रहनेके लिये पुरुषार्थीभी बनो। हमारे अंग और प्राण चलतेही रहें, तभी स्वास्थ्य ठीक प्रकारसे धारण होसकता है।

(८) यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम्। पथामनुव्यावर्त्तनेऽन्यं पाप्मानुपद्यताम् ॥ ६८ ॥

अथर्व० ६। २६। २॥

अर्थः—हे (पाप्मन्) पाप, [तुम] (यः) जो (नः) हमें [अपने आप] (न) नहीं (जहासि) छोड़तेहो, (तम्) [उस] तुझको (उ) निश्चय करके (वयं) हम [ही] (जहिमः) छोड़ते हैं। (पथां) मार्गोंके (व्यावर्त्तने) अलग २ फटनेके स्थानपर (अनु) पहुंचाहुआ (पाप्मा) पाप (अन्यं) दूसरे [मार्ग] (अनु) पर (पद्यताम्) चले ॥ ८ ॥

सज्जनो, पाप अपने आप भला कब किसीको छोड़ता है। यह तो अभ्याससे बढ़ताही है। व्यसनी आदमी बुढ़ापेमें अपनी वासनाओंको अशक्तिके कारण पूरी नहीं कर सकता। परन्तु उसे शान्ति नहीं मिलती। विषयोंने उसे छोड़ा है, उसने उन्हें नहीं छोड़ा। आगपर जितना घी या तेल डालोगे, वह उतना अधिकही भड़केगी*। शान्ति मार्ग बदललेनेमें है। अपनी शक्तिकी परीक्षा पापके सामने साधारण साधकके लिये अच्छी नहीं। जैसे चौराहेमें पहुंचकर मनुष्यका साथ टूट जाता है। प्रत्येक अपने २ घरकी ओर चल देता है। ऐसेही वेद भगवान्

---

* "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते" ॥ मनुः २॥

शिक्षा देता है कि हमें स्वयं समझ आनेपर पापसे अपना मार्ग अलग कर लेना चाहिये। इसीमें हमारा कल्याण है। अपनी धारणा पक्की करके पापको स्पष्ट कह दो कि हमारा मार्ग और है, तेरा मार्ग और है।

माया०—भगवन्, यह पाप हमारे अन्दर कहांसे आजाता है?

महा०—प्यारे, पाप बुरे संस्कारोंका फल है। बुरे संस्कार बुरी संगतिके फल हैं। पुण्यात्माओंका संग दोष दूर करता है। बुरोंका संग अच्छेकोभी बुरा बना डालता है। अतः वेद इस विषयमें बड़ा स्पष्ट उपदेश करता है।

(९) बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चादुतोत्तरस्मादधराद-घायोः। इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ६९ ॥		ऋक्० १०। ४२। ११ ॥

अर्थः—(बृहस्पतिः) सब विद्याओंका स्वामी (नः) हमें (पश्चात्) पीछे (उत) और (उत्तरस्मात्) ऊपर (अधरात्) नीचे (पुरस्तात्) आगे (उत) और (मध्यतः) मध्यसे (नः) हमें (अघायोः) पापी [की संगति] से (परिपातु) बचावे। (इन्द्रः) परमैश्वर्यका स्वामी (सखा) [हमारा सच्चा] मित्र (नः) हमें [अपने] (सखिभ्यः) मित्रोंके प्रति (वरिवः) कल्याण और सुखको (कृणोतु) करे ॥ ९ ॥

प्रभु हमारा सच्चा मित्र है। उससे हम सबसे अच्छी बात यही मांगते हैं कि हम बुरी संगतिसे बचे रहें। विद्याके प्रकाशसे बुरे और भलेका विवेक होगा। भलेके मेलसे ऐश्वर्य मिलेगा। प्यारो, इस कारणसे बृहस्पति और इन्द्र, इन दो

नामोंसे भगवान्का संकेत किया है। वेदके एक२ शब्दमें विशेष बल और सौन्दर्य भरा है।

(१०) द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुंधन्तु मैनसः॥ ७०॥

यजु० २०। २०॥

अर्थः—(इव) जैसे (द्रुपदात्) खूंटेसे (मुमुचानः) छूटा हुआ [पशु स्वतंत्र होता है] (इव) जैसे (स्विन्नः) पसीना लेकर [या] (स्नातः) नहाकर [मनुष्य] (मलात्) मलसे [छूट जाता है] (इव) जैसे (आज्यं) घी (पवित्रेण) छाननीसे (पूतं) [छन कर] शुद्ध होता है [ऐसेही] (आपः) जल (मा) मुझे (एनसः) पापसे (शुंधन्तु) शुद्ध करें॥ १०॥

सत्य०—महाराज, आपने कुच्छ दिन हुए बतायाभी था और बातभी स्पष्ट है कि जलका केवल शरीर परही प्रभाव पड़ सकता है।

महा०—बेटा, बिल्कुल ठीक है। उदाहरणोंमें पसीने तथा स्नानद्वारा शुद्धिका वर्णन करके फिर जलके संकेतका अभिप्राय यह है कि इस शुद्ध तथा स्वतंत्र होनेकी भावनाको सदा बनाये रखना चाहिये। जल शान्तिका चिह्न है। अतः पीते, नहाते, मुखादि धोते समय मानसिक शान्तिकाभी विचार करो। वह बिना पापको छोड़ नहीं होसकती। अतः श्रुति देवीका भाव यह है कि साधकोंको सदा सच्ची शान्तिकी प्राप्तिकेलिये पापसे घृणा तथा पुण्यसे प्रेमका भाव अपने अन्दर बनाये रखना चाहिये।

तृतीय खण्ड

पश्चात्ताप और पुनरुद्धार ।

लोक०—महाराज, कल आपने जो उपदेश किया, वह था तो ठीक, पर··· ··· ··· ··· ····

महा०—हां २, कहो रुक क्यों गये ?

वस्तु०—पर पाप फिर घेर लेता है, क्यों लोकेश, यही बात है ?

लोक०—जी हां ।

महा०—वेद भगवान् हमारे स्वभावको अच्छी तरहसे जानता है । इस लिये इस दुर्बलताका भी वहां संकेत करके उपाय बतलाया है ।

सत्य०—महाराज, आज यही प्रकरण सुनाइए ।

महा०—मेरा पहिले हीसे ऐसा ही विचार था । कलके कथनके पश्चात् इसी बातका स्वाभाविक प्रकरण है । धार्मिक स्वास्थ्यका यह पहिला चिह्न है कि मनुष्य जब कोई पाप करे, तो उसके लिये पीछे शोकातुर हो । इस पश्चात्तापका यह आशय है कि वह अन्दरसे दुःखी होरहा है । ऐसी अवस्था कुच्छ देर रहेगी, उसके पश्चात् या तो पाप छूट जावेगा और या आत्मा इतना दुर्बल हो जावेगा कि अनुभव करनाही छोड़ देगा । पापके अभ्यास के साथ पश्चातापका भी अभ्याससा हो जाता है और फिर यह एक क्रीड़ासी बन जाती है । इस लिये, प्यारो, यह

बड़ी सूक्ष्म दृष्टिकी बात है। पूरा प्रयत्न करते हुए, सच्चे पश्चात्तापको अपनी शुद्धिका साधन बनाना चाहिये।

माया०—महाराज, यह कैसे जानें कि पश्चात्ताप कब केवल दिखावा और कब असली होता है?

महा०—बेटा, आरंभमें तो पश्चात्ताप असली ही होता है। यदि उसी समयसे इसके साथ दूसरे साधनोंपर दृढ़तासे आचरण आरंभ कर दिया जावे, तबतो यह हमारेलिये बड़ा उपकारी होता है। और, यदि केवल रो धो कर फिर और कुछ न करें, तो विशेष लाभ नहीं होता। हां, दुर्बलता बढ़ती है।

सत्य०—क्या पश्चात्ताप किसी गुरु या मित्रके सामने करना चाहिए?

महा०—यह भी बड़ी विकट समस्या है। कई संप्रदायोंमें यह प्रथा होती है। लोग अपने गुरुओंके आगे मनकी व्यथाका वर्णन करके समझते हैं कि शान्ति हो गयी, परन्तु उसके कई बुरे परिणाम होते हैं। मनुष्योंमें परस्पर रागद्वेष रहते ही हैं। पीछे लड़ाई झगड़ा होता और अशान्ति बढ़ती है। व्यक्तिका अपना उत्तरदायित्व भी कम हो जाता है। पाप करनेमें भय भी शनैः २ कम हो जाता है। अतः पश्चात्तापका करना निष्फलसा हो जाता है। आज भगवान् कृष्ण और अर्जुन जैसे गुरु, शिष्य या मित्रोंके जोड़ आसानीसे नहीं मिलते। इसलिये हमें यही चाहिये कि अपना रोना अपने हृदयके राजा, परमेश्वरके आगे ही रोया करें। पत्रियां काली करनी या दूसरोंके कानोंमें अपनी पीड़ाका डालना बहुत लाभकारी नहीं। अन्तर्यामी परमात्मा पहिले ही हमें लड़खड़ाते हुओंको जानते हैं। हमारा

कहना केवल अपने अन्दर अनुभव पैदा करनेकेलिये होता है कि जो मार्ग हमने पकड़ना है, वह ठीक नहीं है। उस अवस्थामें जब हम भगवान्‌की सहायताकेलिये पुकारते हैं, तो अवश्य शान्ति भी होती है और मार्ग भी मिलता है।

लोक०—भगवन्, इस विषयके कुच्छ मन्त्र सुनावें, ताकि हम नित्य उनका ध्यान तथा मनन किया करें।

महा०—सुनिये!

(१) यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्। मिनीमसि द्यविद्यवि ॥ ७१ ॥　　　ऋक्० १। २५। १॥

अर्थः—हे (वरुण) धारण करने योग्य (देव) प्रकाशस्वरूप प्रभो! (यथा) जिस प्रकारसे (ते) तेरी (विशः) प्रजाएं [हम लोग] (यत्-चित्-हि) जो कुछ (व्रतं) नियमका (द्यविद्यवि) प्रतिदिन (प्र-मिनीमसि) भंग करते हैं। [उसे आप जानते ही हैं। परन्तु आप हमारे सच्चे सहायक हो। इसलिये,] ॥२॥

(२) मा नो वधाय हत्नवे जिहीडानस्य रीरधः। मा हृणानस्य मन्यवे ॥ ७२ ॥　　　०—२॥

अर्थः—[भगवन्] (नः) हमें (जिहीडानस्य) उपेक्षासे देखते हुए [अपने] (हत्नवे) घायलकरनेवाले (वधाय) घातका (मा) मत (रीरधः) निशाना बना। (हृणानस्य) क्रोध करते हुए [अपने] (मन्यवे) क्रोधके [आगे] (मा) मत [डाल] ॥ २ ॥

भगवन्! आपकी उपेक्षा हमारी मौत है। आप अपनी कृपा-वृत्ति बनाये रखें। कोई दिन नहीं जाता जब हमसे कोई

न कोई भूल न हो जाती हो। आपके प्रेमकाही बस सहारा है। आप छोड़ देंगे, तो और पूछने वाला कौन है ? भगवन्, आपकी रखी हुई परीक्षा बड़ी कड़ी है। इसमेंसे नाम पाकर पार निकलना अति कठिन है। पग २ पर ठोकरें खाते हैं। यह आपसे छिपा हुआ थोड़ा ही है। प्रभो! अपनी छत्रछायामें मुझे हाथ पांव मारनेका अवसर प्रदान करें। मैं अपने कियेपर लज्जित हूं। पर मुझे अन्दरसे भरोसा है कि आपकी कृपासे ठीकहो जाऊंगा।

(३) यच्चिद्धि ते पुरुषत्रा यविष्ठाचित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः। कृधीष्वस्माँ अदितेरनागान्व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने ॥ ७३ ॥ ऋक्० ४। १२। ४॥

अर्थः—हे (यविष्ठ) सबसे बढ़कर पदार्थोंके जोड़ तोड़में समर्थ (अग्ने) प्रकाशमान् प्रभो! (यत्-चित्-हि) जो कुछ (कच्चित्) किसी तरहसे भी (ते) तेरे [नियमोंके पालनेके संबंध में] (पुरुषत्रा) मनुष्योंके अन्दर (अचित्तिभिः) नाना प्रकारकी अविद्याके कारण [हमने] (आगः) पाप (चकृम) किया है। [उसके विषयमें] (अस्मान्) हमें (अदितेः) अखण्ड नियमपालनके हेतुसे (अनागान्) पापसे मुक्त (सु) अच्छी तरहसे (कृधि) कर। (विष्वक्) सर्व प्रकारसे (एनांसि) अपराधोंको (वि- शिश्रथः) ढीलाकर ॥ ३ ॥

जितना पाप है, उसके मूलमें किसी न किसी प्रकारकी अविद्याही है। मोह, भ्रम, अज्ञान, राग, द्वेष, लोभ आदि सब अविद्याकेही रूपान्तर हैं। यही निमित्त बनकर हमसे पाप करवाते हैं। जब भी हमारी उन्नति होगी, अदिति अर्थात् सृष्टि

की रचनाके अखण्डनीय व्रतोंको समझकर उन्हें धारण करनेसे ही होगी। प्यारो, भगवान्‌से प्रार्थना करो कि वह हमें पूर्व कही हुई अविद्यासे पृथक् करके अदितिसे जोड़ देवे, ताकि हमारे सब कष्ट और सन्ताप दूर हों।

(४) महश्चिदग्न एनसो अभीक ऊर्वाद्देवानामुत मर्त्यानाम्। मा ते सखायः सदमिद्रिषाम यच्छा तोकाय तनयाय शं योः ॥ ७४ ॥ ०—५ ॥

अर्थः—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप भगवन्! (देवानां) देवताओं (उत) और (मर्त्यानां) मनुष्योंके (अभीके) साथ [रहते हुए] (ते) तेरे (सखायः) मित्र [बने हुए हम] (सदं-इत्) कभी भी (महः-चित्) किसी बड़े (ऊर्वात्) फैले हुए (एनसः) पापसे (मा) मत (रिषाम) मारे जावें। [सदाही] (तोकाय) पुत्रों [और] (तनयाय) पौत्रोंके प्रति (शं) उपद्रवोंसे शान्ति और (योः) सुखों की प्राप्ति (यच्छ) प्रदानकर ॥ ४ ॥

दो प्रकारके पापका वर्णन किया है। एक वह पाप होता है, जिसके द्वारा हम देवताओंकी अवज्ञा करते हैं। दूसरा वह होता है, जिसके द्वारा मनुष्योंकी अवज्ञा करते हैं। कभी पाप इतना सूक्ष्म होता है कि देवताही पहचान सकते हैं और कभी हम इतना मर्यादाका उल्लंघनकर बैठते हैं कि साधारण जनता भी हमसे घृणा करने लग जाती है। इस विस्तृत, सूक्ष्म और स्थूल पापसे प्रभुकी कृपा और सहायता और सच्चे साधनोंका सहारा ही हमें छुड़ा सकता है। मानसिक उपद्रवोंसे छूटकर, बलके

बढ़ानेवाले गुणोंको धारण करें, ताकि हमारे पुत्र और पोते भी एक दूसरेके पीछे अच्छे, धर्मात्मा बनते हुए चले जावें ॥

(५) त्वं हि नस्तन्वः सोम गोपा गात्रे गात्रे निषसत्था नृचक्षाः। यत्ते प्रमिनाम व्रतानि स नो मृड सुषखा देव वस्यः ॥ ७५ ॥ ऋक्० ८।४८।६॥

अर्थः—हे (सोम) [सर्व संसारको] प्रेरणा करनेवाले, भगवन्! (त्वं) आप (हि) क्योंकि (नः) हमारे (तन्वः) शरीर [तथा सर्वस्व] के (गोपाः) रक्षा करनेवाले हैं [और] (नृचक्षाः) सब नर, नारीको देखतेहुए (गात्रे गात्रे) अंग-अंगमें (नि-ससत्थ) मौजूद रहते हैं। [इस लिये] (यत्) जब [कभी] (ते) तेरे (व्रतानि) नियमोंका (प्र-मिनाम) भंग करें, [तो] हे (देव) प्रकाशस्वरूप (सु-सखा) अच्छे मित्र [बनकर] (वस्यः) कल्याण करनेवाले [होकर] (सः) आप (नः) हमपर (मृड) कृपा करें ॥ ५ ॥

भगवान्‌की आंख प्रत्येक प्राणीके कार्योंको नित्य देखती रहती है। सबके अन्दर अन्तर्यामी होकर परमेश्वर मौजूद है। जीवनके सौ उतार, चढ़ाव आते हैं। कई वार हमसे बड़े बड़े अपराध होजाते हैं। हमारे अपने साथी साथ छोड़ देते हैं। सम्बन्धी सम्बन्ध तोड़ देते हैं। इष्ट, मित्र मुँह मोड़ लेते हैं। प्यारो, उस समय भी भगवान्‌की कृपा-दृष्टि फिर हमारा उद्धार करती है। अन्दर लज्जा पैदा होती है। पुरुषार्थी साधकोंकेलिये यह एक प्रबल प्रेरणाका काम देती है। वे

सन्तापकी भट्टीसे कुन्दन होकर निकलते हैं। यही प्रभुका मित्र बनकर सहायता करना है।

(६) यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेभिद्रोहं मनुष्याश्चरन्ति। अचित्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥ ७६॥ अथर्व० ६। ५१। ३॥

अर्थः—हे (वरुण) वरने योग्य प्रभो! (दैव्ये) दिव्य जीवनवाले (जने) लोगोंके प्रति (यत्) जो (किं च) कुच्छ (इदं) यह [पाप-कर्म] (अभि-द्रोहं) धोखा [आदि] (मनुष्याः) [हम और दूसरे] मनुष्य (चरन्ति) करते हैं। [और] (चेत्) यदि (अचित्त्या) अज्ञानसे (तव) तेरे (धर्म) धर्मका (युयोपिम) हम उल्लंघन करते हैं, (तस्मात्) उस (एनसः) पापसे हे (देव) प्रकाशस्वरूप, प्रभो! (नः) हमें (मा) मत (रीरिषः) हानि पहुंचा॥ ६॥

प्यारो, जो प्रभुके प्यारे, सबके दुःख दूर करनेवाले, परोपकारी, सज्जन महात्मा हैं, उनको भी लोग धोखा देनेसे नहीं रहते। वे लोग वस्तुतः बड़े खोटे भागोंवाले हैं। वे सज्जन तो सच्चे देवता होते हैं। उनसे तो जीवन सुधारनेकेलिये प्रकाश लाभ करना ही हमारा कर्त्तव्य होना चाहिये। प्रभुकी कृपासे हम इस अनर्थसे बचे रहें। इसके साथ ही भगवान्के चलाये हुए नियमोंका ठीक-ठीक पालन करते रहें। इसीमें हमारा कल्याण है। वे नियम बड़े कड़े और अटल हैं। वे किसी भी व्यक्तिकेलिये ढीले नहीं होसकते। यह ठीक है कि हम प्रायः अज्ञानसे ही यह अपराध करते हैं। पर अज्ञान भी

तो दूर किया जासकता है। इस लिये वेद वार वार प्रभुसे प्रकाश प्राप्त करनेका इशारा करता है। हमारे सन्तापके मूलमें मोह और भ्रम ही मुख्य हेतु है। सत्संगसे यह दूर होसकता है। वेद भगवान् इसी बातको खोलकर फिर कहता है।

(७) मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः। अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः॥ ७७॥ अथर्व० ६।४१।३॥

अर्थः—(ये) जो (दैव्याः) [विद्याके प्रकाशसे] प्रकाशमान [हमारे] (तनूपाः) शरीरोंके रक्षक (नः) हमारे (तन्वः) शरीरके (तनूजाः) [शरीरसे पैदा होनेवाले पुत्रादिके समान] भाग हैं [ऐसे] (ऋषयः) ऋषि (नः) हमें (मा) मत (हासिषुः) छोड़ें। हे (अमर्त्याः) मृत्यु [के भयसे] रहित [विद्वानो] (मर्त्यान्) मरनेके स्वभाववाले (नः) हम लोगोंके (अधि) पास (सचध्वं) रहो। (नः) हमें (जीवसे) जीनेकेलिये (प्रतरं) दीर्घ (आयुः) आयु (धत्त) धारण कराओ॥ ७॥

प्यारो, आपने अच्छी तरहसे वेदके आशयको समझा? ऋषि हमारे मध्यसेही निकलते हैं। दो भाई एकही घरमें पैदा होते हैं। अपने अच्छे कर्मों, गुणों और वृत्तियोंसे एक ऋषि और देवता बनजाता है और दूसरा राक्षस होजाता है। हमारा कल्याण इस बातमें है कि हमारे आसपास ऋषियोंका निवास हो। हमें अपनेही भाइयोंको मृत्युके भयसे ऊपर उठकर नित्य सन्तोष और शान्तिसे युक्त होकर रहते हुए देखकर उत्साहहो कि

हमभी उनके पाद-चिह्नोंपर चलकर उन्नति करें। जीवित जाग्रत जातियां अपने महापुरुषोंके जीवनसे इसी तरह लाभ उठाती हैं। हमेंभी चाहिये कि महाराज रामचन्द्र और भगवान् कृष्णचन्द्रसे अपना घनिष्ठ संबंध जोड़ें और उनसे कुच्छ सीखें। उनकी वीरता, धीरता और पवित्रताको अपने जीवनका आधार बनावें। इन्हीं उपायोंसे यह महापुरुष मृत्युको जीतकर नित्य आनन्दका सेवन करते थे। इन्हेंही हमेंभी वर्तना चाहिये। जो होचुका, सो होचुका। अब चित्तका भार प्रभुके चरणोंमें और महापुरुषोंकी सेवामें बैठकर हलकाकर देना चाहिये और उन्नतिके मार्गपर चल पड़ना चाहिये। सज्जनो, पश्चात्तापका भाव बैठकर रोतेही रहना नहीं। इसके साथ पुनरुद्धार अर्थात् फिर अन्धेरे गढ़ेसे निकलकर, प्रकाशमें विचरनाभी है। इसीका नाम जीवन है। जहां यह मौजूद है, वहां मृत्युका कोई भय नहीं सता सकता।

(८) यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्। आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ ७८ ॥ अथर्व० ६। ११४। १॥

अर्थ:—हे (देवाः) प्रकाशमान (देवासः) देवताओ, (यत्) जो (देव-हेडनं) देवताओंकी अवज्ञा (वयं) हमने (चकृम) की है। हे (आदित्याः) अटल नियमवालो! (यूयं) तुम (ऋतस्य) सच्चाईकी (ऋतेन) सच्चाई [परमसत्य] के द्वारा (तस्मात्) उस [पापकी पकड़] से (नः) हमें (मुञ्चत) छुड़ाओ ॥ ८ ॥

उलटे कार्यका मनपर बुरा प्रभाव कब बन्द होगा? जब हम उससे दुगना सीधा कार्य कर दें। परम सत्य प्रभुका नाम है।

जब सच्चे विद्वान्, सच्ची विद्यासे प्रकाशमान होकर, परम सत्यके रंगमें हमें रंग देंगे, तो सारा झूठ, दंभ, धोखा और कपट दूर होजावेगा । भावनाकी दृढ़तासे इधर रुचि बढ़ती जावेगी ।

(९) ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुंचतेह नः । यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ ७९ ॥ ०—२ ॥

अर्थः—हे (आदित्याः) अटल नियमोंके पालन करने वालो (यज्ञवाहसः) यज्ञादि पवित्र कर्मोंको पूर्ण करानेवालो (यजत्राः) पूजनीय [देवताओ], (यद्) जब (यज्ञं) यज्ञको (शिक्षन्तः) सिद्ध करनेकी इच्छा करते हुए [हम] (न, उपशेकिम) ठीक कर नहीं सके, [तो आप] (ऋतस्य) सत्यके (ऋतेन) सत्यद्वारा (इह) इस [संकटकी अवस्थामें] (नः) हमें (मुंचत) [अपराधसे] छुड़ावें ॥ ९ ॥

जीवन एक यज्ञ है। हमारे मनमें यही भाव रहना चाहिये। जहांतक होसके परोपकार करते रहें । परन्तु इस मार्गपर सत्पुरुषोंका सहाराही हमें ठीक २ चला सकता है । इच्छा होते हुएभी मानसिक दुर्बलताके कारण हम पूरे नहीं उतर सकते । कई अनुचित कर्मकर बैठते हैं। परन्तु जो कुच्छभीहो, मनमें भावना बनी रहनी चाहिये। विद्वानोंका सत्संग बड़ा उपकारी है, उसीद्वारा मनको धो डालना चाहिये।

(१०) यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्। यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ ८० ॥

अथर्व० ६ । ११५ । १ ॥

अर्थ :—हे (विश्वेदेवाः) सकल देवताओ (सजोषसः) परस्पर प्रीतिसे रहनेवालो! (विद्वांसः) जानते हुए [या] (अविद्वांसः) न जानतेहुए (यद्) जब (वयं) हम (एनांसि) पाप (चकृम) कर बैठें (यूयं) आप (नः) हमें (तस्मात्) उससे (मुंचत) छुड़ावें ॥ १० ॥

पाप दो प्रकारसे होता है। अज्ञान तो कारण होता ही है, पर जानते हुएभी पापसे बचना कठिन होता है। वेद विद्वानोंका लक्षण यह बतलाता है कि वे मिलकर प्रेमसे रहनेवाले हों। आज यह बात दिखाई नहीं देती। इसीलिये लोगोंपर प्रभाव भी कम पड़ता है। विद्वानोंका यह कर्त्तव्य है कि वे लोगोंके सामने आदर्श बनकर रहें, ताकि सबको प्रकाश मिलता और जीवनका मार्ग दिखाई देता रहे।

(११) यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्। भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुंचताम् ॥८१॥ ०—२ ॥

अर्थ :—(यदि) (जाग्रत्) जागतेहुए (यदि) (स्वपन्) सोतेहुए (एनस्यः) पापमें फंसाहुआ [मैं] (एनः) पाप (अकरं) कर बैठा हूं। (मा) मुझे (तस्मात्) उससे (भूतं) भूत (च) और (भव्यं) भविष्यत् (मुंचतां) छोड़ें (इव) जैसे [किसी पशुको] (द्रुपदात्) खूण्टेसे [छोड़ा जाता है] ॥११॥

जब पापके संस्कार बहुत बढ़ जाते और पक्के होजाते हैं, तो सोये २ भी संकल्प, विकल्प करनेवाला मन उधेड़-बुनमें लगा ही रहता है। जो मनुष्य जागताहुआ अच्छे विचार नहीं करता, वह सोयाहुआ भी कभी अपने स्वभावसे उलटा नहीं

जासकता। इस अवस्थामें पापके खूंटेके साथ हम बांधेसे जाते हैं। दाएं ओर बढ़ें तब भी और बाएं ओर बढ़ें तब भी वह पीछे खैंच लेता है। इस कड़ी परीक्षाके समयमें यदि अपने भूत और भविष्यत्का विचार हमारे सामने आजावे, तो हम चौंक पड़ते हैं। सज्जनो, क्या पता, कितने लाखों वर्षोंसे इसी प्रकारके चक्रमें चलते आरहे हैं। यह इसी प्रकारके कर्मोंका ही तो परिणाम है। तो क्या फिर भी ऐसे ही करते रहनेसे हमारा भविष्य ऐसा ही खराब न होगा? अवश्य होगा और शायद इससे अधिक खराब हो। पीछेके जीवनकी पड़-ताल करनेसे शोक और आगेका विचार करनेसे भय पैदा पैदा होकर हमें कभी कभी ठीक मार्गपर डाल देते हैं। सोया हुआ आत्मा जाग पड़ता है। अपनी प्रतिष्ठाका विचार पैदा होता है। दुर्बलता दूर होकर मानसिक सरोवर प्रबल विचार-तरंगोंसे उछलने लगता है। यही शुद्धि है। यही पुनरुद्धार है।

चतुर्थ खण्ड

जीवनका आदर्श।

सत्य०—महाराज, आज कौनसे विषयपर वेद भगवान्का उपदेश सुनाएंगे?

महा०—बेटा; जिस मार्गका तीन चार दिनसे वर्णन होरहा है, उसीके सम्बन्धमें वैदिक आदर्शको संगतके सामने रखूंगा। समय होगया है; तुम्हारा मित्र-मण्डल आता ही होगा।

सत्य०—आइए, वस्तुस्वरूपजी, आपकी प्रतीक्षा ही होरही थी। लोकेशजी, नमस्ते।

अन्त०—भगवन्, नमस्ते। मैं कुच्छ दिनोंकेलिये बाहिर एक आवश्यक कामपर चला गया था। आपके वचनोंको सुन सुनकर मैं अपने अन्दर बड़ा परिवर्त्तनसा पाता हूं। वहां भी आपके चरणोंमें ही मेरा चित्त लगा रहा।

उप०—और, मेरा तो, महाराज, सब उपराम उड़ गया है। क्रियात्मक जीवनमें आनन्द अनुभव करने लगा हूं।

महा०—महाशयो, जितना अधिक वैदिक जीवन-नीतिको समझोगे और अपनाओगे; उतना ही अधिक तुम्हारे अन्दर उल्लास, उत्साह; बल और पराक्रम पैदा होगा। और जितने अधिक यह दिव्य गुण तुम्हारे अन्दर निवास करेंगे, उतना अधिक जगत्में तुम्हारा प्रकाश होगा। सुनिए, वेद किस प्रकार इस सम्पत्तिको प्राप्त करने की प्रेरणा करता है।

(१) मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय। पशूनाꣳ रूपमन्नस्य रसो यशः श्री श्रयतां मयि स्वाहा ॥८२॥

यजु० ३९। ४॥

अर्थः—[मैं] (मनसः) मनकी (कामं) कामना (आकूतिं) उत्साह (वाचः) वाणीकी (सत्यं) सच्चाईको (अशीय) प्राप्त करूं। (पशूनां) पशुओंका (रूपं) [सुन्दर] रूप (अन्नस्य) अन्नका (रसः) रस (यशः) यश (श्रीः) लक्ष्मी (मयि) मेरे हां (श्रयतां) निवास करे। (स्वाहा) यह मेरी भावना सत्यमय हो ॥ १ ॥

प्यारो, उत्साहके विना मानसिक कामनाएं कभी पूरी नहीं हुआ करतीं। लपोड़शंख बननेसे मनुष्य अपने आपको ही धोखेमें रखता है। वाणीमें सत्यकी प्रतिष्ठा होनेसे ही लोकमें मनुष्यकी प्रतिष्ठा होती है। आर्य-जीवन शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकारकी उन्नतिसे युक्त होना चाहिये। अतः जहां सत्य और उत्साहको धारण करनेका उपदेश होता है, वहां साथ ही, पशुओं और धन, धान्यकी भी आवश्यकता बतायी गयी है। अन्तमें 'स्वाहा'का शब्द प्रेरणा करता है कि जो कह रहे हो, उसे पूरा करनेकी चिन्ता करो। शब्दमात्रसे वायुको धक्के लगानेसे ही जीवन सफल नहीं हुआ करता। कार्य करो, उद्यमी बनो और लक्ष्यको प्राप्त होवो।

वस्तु०—महाराज, हमारा लक्ष्य क्या है?

महा०—बेटा, एक शब्दमें देवता बनना हमारा लक्ष्य है। भौतिक जगतमें प्रकाश, बल, गति आदि गुणोंसे युक्त होनेकेकारण सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जलादिको देवता कहते हैं *। इन्हीं गुणोंको धारण करनेसे मनुष्य भी देवता-पदको प्राप्त कर सकता है। जन्मसे हम मर्त्य हैं, कर्मसे हम अमर देवता बन सकते हैं। वेदका आशय स्पष्ट है। सुनो,

(२) द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवतानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ८३ ॥ यजु० १९। ४७।

* देखो, वेद-सन्देश. १म भाग, पृष्ठ, १४८, २३४—२३७। देवयज्ञ-प्रदीपिका, पृष्ठ १३७—१३९।

अर्थः—(अहं) मैंने (पितृणां) ज्ञानी वृद्धोंसे (देवानां) देवताओं (उत) और (मर्त्यानां) मर्त्योंके (द्वे) दो [अलग अलग] (सृती) मार्गों [का वर्णन] (अशृणवं) सुना है। (इदं) यह (विश्वं) सारा (एजत्) चलता फिरता [संसार] (यत्) जो (पितरं) पिता [=द्युलोक] (च) और (मातरं) माता [=पृथिवी] के (अन्तरा) बीचमें [है], (ताभ्यां) उन [मार्गों] से (सम्-एति) होकर जाता है ॥ २ ॥

कालका चक्र बड़े प्रबल वेगसे चल रहा है। वह एक क्षण भर भी किसीकेलिये ठहर नहीं सकता। जिसे जो कुच्छ करना है, स्वयं समयको ठीक ठीक समझकर करते जाना चाहिये। दो ही मार्ग हैं और दोनों प्रत्येक साधकके सामने खुले पड़े हैं। यह उसकी बुद्धि, शिक्षा, धारणा और शक्तिकी परीक्षाका एक चिह्न होगा कि वह अमृतके द्वारको खोलता है, या कि जन्म, मरणके चक्रमें ही पड़ा बिल-बिलाता है।

(३) मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ ८४ ॥　　यजु० १३। २७ ॥

अर्थः—(ऋतायते) ऋतको धारण करनेवालेकेलिये (वाताः) पवन [और] (सिन्धवः) नदियां (मधु) मीठे बनकर (क्षरन्ति) बहते हैं। (नः) हमारेलिये (ओषधीः) ओषधियां (माध्वीः) मिठाससे युक्त (सन्तु) हों ॥ ३ ॥

परमात्माके अटल, सच्चे नियमोंका नाम ऋत है। जो मनुष्य प्रभुकी सुन्दर रचनाके इस रहस्यको समझकर सत्या-

चरणसे युक्त होजाता है, उसकेलिये संसार कड़वा नहीं रहता। जहां जाता है, उसे मीठा ही मीठा प्रतीत होता है। जल क्या और वायु क्या, सूर्य क्या और चन्द्र क्या, सर्वत्र उसकेलिये मिठासका सामान तय्यार है। प्यारो, वेद हमें उपदेश करता है कि हमारा जीवन भी इसी प्रकारकी दिव्य सम्पत्तिसे युक्त हो, ताकि हम वृथा जगत्को दोषी न ठहराते हुए, चारों ओर आनन्दको ही अनुभव कर सकें। यही दिव्य जीवनको धारण करने तथा प्रभु-प्रसादको पानेका मार्ग है।

(४) आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताँ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पताम्। यज्ञो यज्ञेन कल्पतां प्रजापतेः प्रजा अभूम स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम ॥ ८५ ॥ यजु० ९। २१॥

अर्थ :—(आयुः) जीवन (यज्ञेन) यज्ञकेद्वारा (कल्पतां) सामर्थ्यसे युक्त हो। (प्राणः) प्राण (चक्षुः) आंख (श्रोत्रं) कान (पृष्ठं) पीठ [और] (यज्ञः) यज्ञ (यज्ञेन) यज्ञकेद्वारा (कल्पतां) सामर्थ्यवान् हों। [हम] (प्रजापतेः) परमात्माकी (प्रजाः) प्रजाएं (अभूम) बनें, (देवाः) हे देवताओ, (स्वः) उत्तम गतिको (अगन्म) प्राप्त हों, (अमृताः) अमर (अभूम) होजावें ॥ ४ ॥

माया०—महाराज, नमस्ते।

महा०—नमस्ते। आज कहां रह गये थे?

माया०—महाराज, क्या बताऊं? मेरे एक मित्र अच्छे

सम्पत्तिशाली हैं। पर उनका सारा रुपया पैसा इधर उधर नष्ट होरहा है। मैंने चाहा कि उन्हें आपके चरणोंमें बैठकर वेदामृतके पान करनेका सौभाग्य प्राप्त हो।

वस्तु०—क्या वही मणिराम सेठ?

माया०—हां। उन्हींके पाससे निरादृत होकर आरहा हूं।

सत्य०—निरादर! यह कैसे?

महा०—बेटा, इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है? सेठ अपने धनके मदमें बेचारे मायारामको मूर्ख, भिखमंगा समझता होगा। उसे इस अवस्थामें उपदेश करना ठीक न था।

माया०—जी हां। वह तो अपने समान किसीको बुद्धिमान् समझता ही नहीं। हा! धनाढ्योंकी भी विचित्र ही दशा है।

महा०—मायारामजी, आपने अपना कर्त्तव्य समझकर इस कार्यको किया। आपने उसकी भलाईकेलिये सब कुच्छ किया। इतना ही विचार हमारे सामने रहना चाहिये। फलकी विशेष इच्छा मत करो। बस, फिर कभी असन्तोष न होगा। अभी आपके आनेसे पहिले मैं वेद भगवान्से यज्ञमय जीवनके विषयमें सन्देश सुना रहा था। कर्त्तव्य-बुद्धिसे युक्तहोकर कर्म करते चले जाना ही इस जीवनका सच्चा बल है। इसीसे शरीर पुष्ट, और अन्तःकरण सन्तुष्ट होता है। यज्ञका अभ्यास ही हमारे यज्ञको पूर्ण बनाता है। इस पूर्णताका अभिप्राय यह है कि स्वार्थ और परार्थमें भेदका लेश भी न रहे। व्यक्ति समष्टिमें पूर्णतया लीन होजावे। आत्महित विश्वहितमें कोई अन्तर न

रहे। हम प्रभुकी प्रजा हैं। हमें किसी धनाढ्यका द्वार खट-खटानेकी आवश्यकता नहीं। वह सबका स्वामी है। हम सब उसके पुत्र और पुत्रियां हैं। इसलिये हमारा परस्पर प्रेम होना चाहिये। ईर्ष्या और द्वेष किसके साथ करें? कोई पराया तो है नहीं। इसी अवस्थाको प्राप्त होना उत्तम गति है। यही सच्चा सुख है। इसको पाकर फिर मृत्युका भय नहीं रहता। भय दूसरेसे होता है। जब संसारके एक एक प्राणीसे मेरे चित्तकी तार मिलकर भगवद्भक्तिको आलाप रही हो, तो भय किससे और शोक कैसा। प्यारो, वहां पहुंचकर आनन्द ही आनन्द है। यही हमारे जीवनका आदर्श है। इसे कभी दृष्टिसे दूर न होने दो।

(५) मा भेर्मा संविक्था अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा ॥८६॥

यजु० १। २३॥

अर्थः—(मा) मत (भेः) भय कर, (मा) मत (संविक्थाः) घबरा। (यज्ञः) यज्ञ (अतमेरुः) ग्लानिका न करनेवाला [हो]। (यजमानस्य) यजमानकी (प्रजा) (अतमेरुः) ग्लानिरहित (भूयात्) हो, (त्वा) तुझ [यज्ञ] को (त्रिताय) शारीरिक, मानसिक और आत्मिक भाव, (द्विताय) वैयक्तिक और सामुदायिक [तथा] (एकताय) परमानन्दकी प्राप्तिकेलिये [धारण करता हूं] ॥ ५॥

सज्जनो, इस मन्त्रमें यज्ञका पूरा आशय प्रकट होरहा है। भय और घबराहटका मूल-नाश करके, घृणा, ग्लानि,

आलस्य और प्रमाद का त्याग करके जीवनके यज्ञमें पग धरो। तुम्हारी प्रजा तुम्हारा अनुकरण करतीहुई वैसी ही बनेगी। प्रत्येक मनुष्यका जीवन शरीर, मन तथा आत्माकी दृष्टिसे तीन प्रकारका, व्यक्ति और समाजकी दृष्टिसे दो प्रकारका और परमलक्ष्य, परमात्माके साथ एकता स्थापित करनेकी दृष्टिसे एक प्रकारका समझा जासकता है, जीवनके इन भिन्न भिन्न विभागोंमें यही पूर्व कहीगयी यज्ञमय-नीति ही पूर्णताको प्रदान करती है। इस लिये सत्य-धर्मका आश्रय लेकर इस पवित्र राजपथपर चल पड़ना चाहिये।

सत्य०—महाराज, आज तो यजुर्वेदहीसे आप सुना रहे हैं।

महा०—बेटा, वेदका अथाह सागर है। जहां डुबकी लगा ली, वहींसे बहुमूल्य रत्नोंकी प्राप्ति होजाती है। वेद गुड़ या मिस्रीके पिण्डके समान है। जहांसे चक्खो, मिठास ही मिठास है।

उप०—क्या हमें भी कभी ऐसी शक्ति प्राप्त होगी?

महा०—प्यारे भाई, उपराम छोड़दे। उत्साहको धारण करले। स्वाध्यायका अभ्यास कर। मनको वेदकी सेवामें लगादे। फिरजो कुच्छ तू चाहेगा, वह चिन्तामणि तुझे देती चली जावेगी।

वस्तु०—भगवन्, वेद भगवान्का पूर्ण अनुवाद भी मिलता है?

माया०—अजी, कहां? मैंने सारा टटोल मारा। काशी तक हो आया।

महा०—सत्य है। यही अवस्था है। सहस्रों वर्षोंके अन्धकारके पीछे महाराज दयानन्दस्वामीने आजसे साठ वर्ष पूर्व-सूर्य्यका प्रकाश लोगोंको दिखाया। अभी एक मास तक हरद्वारके तीर्थ पर कुम्भ-स्नानके लिये लाखों नर, नारी इकट्ठे होंगे। बारह २ वर्षकी पीछे यह पर्व लगता है। १६२४ के कुम्भपर पाखण्डखण्डनी पताका खड़ी करके महाराजने सर्व प्रकारके अन्धकार, अन्याय और अत्याचारके विरुद्ध हल्ला बोल दिया था। तबसे फिर वेद भगवान्का नाम कानोंमें पड़ने लगा है। उन्होंने वेदका भाष्यभी रचा। पर पूरा न कर सके। उनके पीछे आर्य समाजके विद्वानोंने कुच्छ थोड़ा बहुत यत्न किया है। परन्तु यह कार्य अभी न हुएके समान है।

अन्त०—महाराज, आर्य समाज बड़ा शक्तिशाली समुदाय है। यह काम अभी तक अधूराही क्यों छोड़ रखा है।

महा०—पुरानी विद्याको पुनर्जीवित करनेकेलिये तपस्वी, त्यागी, अप्रमादी, योग्य जीवनोंकी आवश्यकता है। ऐसे लोग अभी इधर नहीं लगे। साधारण प्रजा वेदका नाम ले २ कर काम चलाती है। पढ़े लिखे ऊपर २ तैरते हैं। जब योग्य युवकोंके मनमें उल्लास होगा, धनियोंका धन-प्रवाह इधर बहेगा, तब यह कार्य होगा। पर होगा अवश्य, क्योंकि महात्यागी, धर्मधुरंधर, प्रभुवर दयानन्दका धक्का लगा हुआ निष्फल कभी न जाएगा। जितना इस ओर पुरुषार्थ करोगे, उतना ही अधिक सुख पाओगे, सुनो, अब ऋग्वेदसे इसी प्रकरणमें कुच्छ सुनाता हूं।

(६) सम्यक् सम्यञ्चो महिषा अहेषत सिन्धोरूर्मावधि

वेना अवीविपन् । मधोर्धाराभिर्जनयन्तो अर्कमित् प्रिया-
मिन्द्रस्य तन्वमवीवृधन् ॥ ८७ ॥ ऋक्० ६ । ७३ । २॥

अर्थः—(महिषाः) महापुरुष (सम्यक्) अच्छे प्रकार (सम्यञ्चः) मिले हुए (अहेषत) उन्नति करते हैं; (वेनाः) विद्वान् लोग (सिन्धोः) समुद्रकी (ऊर्मौ-अधि) लहरके ऊपर (अवीविपन्) बीज बो चुके हैं । (मधोः) मधुकी (धाराभिः) धाराओंसे (अर्कं) स्तुतिको (जनयन्तः) प्रकट करते हुए (इत्) निश्चय करके [वे] (इन्द्रस्य) इन्द्रके (प्रियां) प्यारे (तन्वं) विस्तृत स्वरूपको (अवीवृधन्) फैला चुके हैं ॥६॥

विद्या बड़ी अच्छी है । यदि इसके साथ परस्पर मिल कर काम करने वाला मधुर स्वभावभी प्राप्तहो जावे, तो समुद्रकी थप २ करती हुई लहरोंके ऊपर भी यश और कीर्त्तिकी खेतीकी जा सकती है । संसार भी तो महासागर है । इसमें सदाही ज्वारभाटे आते रहते हैं । कितनी गड़ बड़ और अशान्ति रहती है । परन्तु सच्चे महापुरुष इन दोनों गुणोंसे युक्त होकर, अशान्तिमें शान्त और चंचलतामें निश्चल रहते और मानव इतिहासके पत्रोंपर अपना नाम अमेट कर जाते हैं ।

(७) पवित्रवन्तः परिवाचमासते पितैषां प्रत्नो अभि-
रक्षति व्रतम् । महः समुद्रं वरुणस्तिरोदधे धीरा इच्छेकु-
र्धरुणेष्वारभम् ॥८८॥ ०—३ ॥

अर्थः—[उक्त महापुरुष] (पवित्रवन्तः) पवित्रतासे युक्त होकर (वाचं) वाणीको (परि-आसते) धारण करते हैं,

(एषां) इनके (व्रतं) व्रतकी (प्रत्नः) अनादि (पिता) भगवान [स्वयं] (अभि-रक्षति) अच्छी तरहसे रक्षा करता है। (वरुणः) सर्वव्यापक प्रभु (महः) महान् (समुद्रं) सागरको (तिरः-दधे) समेटकर धारण करता है, (धीराः) धीरपुरुष (इत्) ही (धरुणेषु) धारण करने वालोंके मध्यमें (आरभं) आरंभ करनेकी (शेकुः) शक्ति रखते हैं ॥ ७ ॥

वे जो कुच्छ कहते हैं, शुद्ध भावसे और पूरा करनेके लिये कहते हैं। चाहे कितनाही कठिन कार्य हो, वे नहीं घबराते। स्वयं भगवान् उनकी लाज रखता है। वस्तुतः वह आपही सबको धारण कर रहा है। उसके शासनमें सूर्यादि सब व्रतका पालन करते हुएही देवता बने हुए हैं, इसलिये धीर पुरुष पक्के व्रती बनकरही स्थायी कार्योंको हाथ लगा सकते हैं। आरंभ कियेहुए कार्यको पूरा करनेसेही असली बड़ाईका प्रकाश होता है ॥ ७ ॥

(८) प्रत्नान्मानादध्या ये समस्वरञ्छ्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः। अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ॥ ८९ ॥ ०—६ ॥

अर्थः—(ये) जो (श्लोक-यन्त्रासः) कीर्त्ति-नियमी (रभसस्य) वेगका (मन्तवः) मनन करनेवाले (प्रत्नात्) पुराने (मानात्) मापसे (अधि-आ-सम्-अस्वरन्) अधिक आगे बढ़ जाते हैं [वेही महापुरुष होते हैं]। (अनक्षासः) अन्धे [और] (बधिराः) बहरे (अप) दूर (अहासत) छोड़कर चलेजाते हैं, (दुः-कृतः) दुष्कर्मी जनः (ऋतस्य) धर्मके (पन्थां) मार्गको (न) नहीं (तरन्ति) तर सकते ॥ ८ ॥

महापुरुषोंका जीवन संकुचित रेखाओंके अन्दर बन्द रहता हुआ, उन्नतिशील तथा विस्तारात्मक होता है । कीर्त्ति और धर्मही उनका धन होता है । उनकी मानसिक शक्ति बड़े वेगसे काम करती हुई, नये २ मार्गोंका उद्घाटन करती हैं । उनको प्रत्येक घटनामें रहस्य-भेदी दर्शन प्राप्त होता है । प्रत्येक शब्दमें विचित्र सन्देश भरा है । उनके आगे साधारण जनता तो अन्धी और बहरीही प्रतीत होती है । नेकी और भलाईका मार्ग कठिन है । धर्मका फल प्रायः गुप्त होता है । साधारण, पामर लोग शीघ्र घबरा उठते और कार्य्यको अपूर्णही छोड़कर भाग जाते हैं । परन्तु वेदके शब्दोंमें यह निश्चित जानो कि वे सदा अपूर्ण-कामही रहते हैं, पूर्व कहे प्रकारसे जो सुकर्मी होते हैं, उन्हींकी जीवन-नौका किनारे लगती है ।

(९) ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस्त्री ष पवित्रा हृद्यन्तरादधे । विद्वान् स विश्वा भुवनाभिपश्यत्यवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान् ॥ ९० ॥ ०—८ ॥

अर्थः—(ऋतस्य) सच्चाईका (गोपाः) रखवाला (सु-क्रतुः) श्रेष्ठ कर्मोंका स्वामी [जगदीश्वर] (न दभाय) धोखेमें नहीं आता, (सः) वह (त्री) तीन (पवित्रा) पवित्रताओंको (हृदि-अन्तः) हृदयके अन्दर (आ-दधे) धारण करता है । (सः) वह (विश्वा) सारे (भुवना) लोकोंको (अभि-पश्यति) अच्छी तरह देखता है, (कर्ते) कर्ममें (अव्रतान्) व्रतहीन [अत एव] (अजुष्टान्] प्रीतिके अपात्रोंको (अव विध्यति) जड़से उखाड़ फेंकता है ॥ ९ ॥

प्यारो, सारी नेकीका आधार परम पिता, परमात्मा है। वह प्रत्येक प्राणीके हृदयमें विराजमान होता हुआ शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शुद्धिकी प्रेरणा करता है। धर्मात्मा, सज्जन उस प्रेरणाका मान करते और उससे उन्नत होते हैं। कुपुरुष उस हृदयकी ध्वनिको दबाकर मस्त रहना चाहते हैं। परन्तु वे मूर्ख हैं। भगवान्‌की आंख प्रत्येक घटनाको भलीभान्ति देख रही है। जो अधर्मके ऊपर अपना जीवन-मन्दिर बनाते हैं, उन्हें पीछे पछताना पड़ता है। प्यारो, सच्चे आस्तिक बनो। प्रभुकी मित्रता और प्रीतिकेलिये अपने आपको पात्र बनाओ। सदा सत्य, धर्मसे प्यार करो। सुकर्मी बननेका पूरा यत्न करो। पुरुषार्थसे कल्याण होगा। आंख बचाकर पार नहीं हो सकते।

(१०) ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आजिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया। धीराश्चित्तत् समिनक्षन्त आशतात्रा कर्तमवपदात्यप्रभुः ॥ ९१ ॥ ०—६ ॥

अर्थः—(ऋतस्य) धर्मका (तन्तुः) सूत्र (पवित्रे) पवित्रतामें (वि-ततः) विस्तारको प्राप्त होता, [और] (वरुणस्य) भगवान्‌की (मायया) मायासे (जिह्वायाः) जिह्वाकी (अग्रे) नोकपर (आ-ततः) स्थापित होता है; (धीराः) धीर पुरुष (चित्) ही (तत्) वहांतक (सम्-इनक्षन्तः) पहुंचतेहुए (आशत) प्राप्त करते हैं, (कर्ते) कर्ममें (अप्रभुः) असमर्थ (अत्र) यहीं (अव-पदाति) अधोगतिको पाता है ॥

सज्जनो, परमात्माकी महती दयासे साधक पुरुषार्थ

करताहुआ, अन्दरकी प्रेरणाको समझता है। शुद्ध, पवित्र आदमीकी जिह्वा सदा धर्मानुसार वचनोंको बोलतीहुई, जगत्में कल्याणका विस्तार करती है। परन्तु जो पुरुषार्थसे घबराते हैं, और काम करनेसे डरते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि वे अपनी उन्नतिको स्वयं रोक रहे हैं। वे व्यर्थ अपने भाग्यको कोसते हैं। पवित्रोंका पवित्र, शुद्धोंका शुद्ध और बड़ोंका बड़ा, भगवान् सबके हृदयका स्वामी बनकर संसार-चक्र चला रहा है। जो इस बातको समझकर, उसके बांधेहुए, ऋषियोंद्वारा माने हुए नियमोंका पालन करते हैं, वे पवित्र होकर उत्कृष्ट गतिको प्राप्त होते हैं। उनके यज्ञमय जीवनकी सुगन्धि चारों दिशाओंको पवित्र करती है। उनकी उपमा निराशोंको नयी आशा बंधाती और मुर्दोंको फिरसे खड़ा कर देती है। प्यारो, कर्ममें अप्रमत्त बनो। सत्त्वहीन, उत्साहहीन, कर्महीन प्रजा कभी उठ नहीं सकती। उत्साही, पराक्रमी, कर्मवीर लोक कभी दब नहीं सकते। दबा रहना मृत्यु है। अपनी टांगोंपर खड़ा होना जीवन है। चेतन होकर परतन्त्र होना चेतनताका अपमान करना है।

सत्य०—सत्य है, महाराज पर यह जानतेहुएभी हम अनेक बार स्वतन्त्र नहीं होसकते। हम न चाहतेहुएभी उलटे मार्गपर चलेजाते हैं।

महा०—नहीं, बेटा, ऐसा नहीं है। इसमें विवेक करनेकी आवश्यकता है। उलटे मार्गपर चलनेका चिरकालसे स्वभावसा बनरहा है। अभी नियमपूर्वक एक २ पग देख २ कर रखना होगा। जबतक ठीक मार्गपर चलनेका भी पूरा २ अभ्यास न हो

लेगा, तबतक थोड़ेसे प्रमादसे फिर उलटे चलने लगोगे केवल ज्ञानसे काम नहीं चलता। साधन-सम्पत्तिकीभी आवश्यकता है। जैसे टिकटके विना गाड़ीपर चढ़ना कठिन है, वैसेही मानसिक विकास और धर्म-मार्गका ज्ञान होतेहुएभी, साधनरूपी टिकटके विना यह यात्रा नहीं होसकती।

वस्तु०—वस्तुतः यही बात है।

उप०—भगवन्, अब उन साधनोंका उपदेश कीजिएगा।

महा०—हां, कलसे ऐसाही करूंगा। अब जाइए। आजके संदेशका शान्तिसे मनन करें। सबकी ओर मुस्करातेहुए देखकर नमस्ते, नमस्ते।

अथ साधनसंविधानो नाम

तुरीय उच्छ्वासः ।

प्रथम खण्ड

सत्संग और सज्जनता ।

महा०—अच्छी बात, उपरामजी, अब जिन साधनोंका वेद भगवान् उपदेश करता है, उन्हें ध्यानसे सुनें और अपने जीवनका भाग बनावें ।

उप०—अवश्य, महाराज !

महा०—प्यारो, मानव समाजमें दो प्रकारके लोग होते हैं। एक पूर्वोक्त मार्गपर चलनेवाले, धर्मात्मा सज्जन और दूसरे इसके विपरीत, राक्षसी वृत्तियोंवाले लोग । यह एक सर्व-साधारण कहावत है कि खरबूज़ेको देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है । जिस प्रकारकी संगतिमें मनुष्यको रख दिया जावे, वह शनैः २ वैसेही संस्कार ग्रहण करलेता है ।

वस्तु०—भगवन, क्या बुरे मनुष्योंके मध्यमें रहता हुआ मनुष्य अपने शुभ संस्कारोंके बलसे ठीक नहीं रह सकता ?

महा०—बेटा, रहसकता है ? पर कोई २ विरला और वहभी कोई बड़ाही साधन-सम्पन्न, बलवान्, तपस्वी, सिद्ध महात्मा । प्रत्येक साधनकेलिये यही अच्छा है कि वह इस कड़ी परीक्षामें न बैठे । इसलिये वेद-माता अपने प्यारे पुत्रोंको जहां यह समझाती है कि वे बुराईके ऊपर विजय प्राप्त करनेवाली, शक्तिको धारण करें, वहां मुख्यरूपसे सत्संगकी महिमा बतलाती है । सुनिए—

(१) ये मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः। व्रता रक्षन्ते अद्रुहः ॥९२॥

(२) ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत। स्तेनं बद्धमिवादिते ॥ ९३ ॥ ऋ० ८। ६७। १३–१४।

अर्थः—(ये) जो (क्षितीनां) जनताके (मूर्धानः) मस्तक [के समान], (अदब्धासः) धोखेमें न आनेवाले, (स्वयशसः) स्वाधीन यशके स्वामी, (अद्रुहः) द्रोह-रहित [सज्जन] (व्रताः) व्रतोंकी (रक्षन्ते) रक्षा करनेवाले हैं॥ (ते) ऐसे [आप] (आदित्यासः) हे अखण्ड नियमोंको धारण करनेवाले [महापुरुषो], (नः) हमें (वृकाणां) भेड़ियोंके (आस्नः) मुंहसे (मुमोचत) बचाओ। [अदिते] हे अखण्डनीय शक्ति-देवि, [हमें ऐसे छुड़ाओ] (इव) जैसे (बद्धं) बांधेहुए (स्तेनं) चोरको छोड़ दिया जाता है॥ १–२।

जातीय नेताओंका स्वरूप और महात्माओंका लक्षण क्या उत्तम प्रकारसे वर्णन किया गया है। जैसे शरीरमें मस्तक उत्तम अंग है, वैसे वे सामाजिक शरीरके उत्तमांग हों। मस्तकका कार्य क्या है? सोच और विचार। समाज महापुरुषोंद्वारा बतायेहुए मार्गपर चलकर ही उन्नति कर सकता है। परन्तु किन नेताओंकी नीति दोष-रहित होती है? जो न धोखा देवें और न उसमें आवें। जो आत्म-विश्वासके आधारपर यश और कीर्त्तिके धनी बन चुके हों। जो द्रोह करनेवाले, संकटके समय अपनी प्रजाको पराये हाथों बेच डालनेवाले न

हों। जो सचमुच आदित्य हों। जिनके व्रतको कोई शक्ति तोड़ न सके। ऐसे सज्जनों, शूरवीरोंके होतेहुए किसी बातका भय नहीं। जैसे न्यायाधीश न्याय करताहुआ, चोर कहकर बांधेहुए मनुष्यको मुक्त कर देता है, ऐसे ही सत्पुरुषोंके संगसे सामाजिक भेड़ियोंके मुंहमें गयाहुआ पुरुष भी छूट जाता है। प्रत्येक साधकको चाहिये कि सबसे पहिले इस दिव्य सहायताको धारण करे। सज्जनोंके समीप रहकर, सज्जन बनना सीखे। उनकी अखण्ड शक्ति उसके अन्दर शनैः शनैः प्रवेश करेगी और, जब भी कोई शारीरिक, मानसिक या सामाजिक भेड़िया उसे दबोचना चाहेगा, तो यह उसकी सदा रक्षा करेगी।

(३) मा नः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसो अंहतिः। ऊर्मिर्न नावमावधीत् ॥ ९४ ॥ ऋक्० ८।७५।९॥

अर्थः—[हे भगवन्] (समस्य) सर्व प्रकारके (दूढ्यः) बुरे विचारोंवाले, [और] (परि-द्वेषसः) सर्वत्र द्वेष करनेवाले [पापी-जन] की (अंहतिः) हनन करनेवाली [कुवासना और कुचेष्टा] (नः) हमें (मा) मत (आ-वधीत्) नष्ट करे (इव) जैसे (ऊर्मिः) लहर (नावं) नौकाको [नष्ट कर डालती है] ॥ ३ ॥

सज्जनो, हममेंसे प्रत्येकने भव-सागरमें अपनी अपनी नौकाको डाल रखा है। देखना, इसे बचाके ले चलना। भयानक लहरोंके थपेड़ोंसे इसे परे ही रखना। भंवरमें न पड़ना। बुरे विचारों और बुरी वासनाओंकी आंधीके उठनेसे पूर्व ही किनारेपर पहुंचनेका यत्न करते रहना। प्यारो, इसका यही

उपाय है कि बुरे मनुष्योंके संगको छोड़ दो। बुरा कौन है? जो बुरे विचारोंमें ग्रसा रहता है और द्वेषपरायण होकर जिसे मिलता है, उसे भी वही विषैला डंक चुभा देता है।

(४) ये वृक्णासो अधि क्षमि निमितासो यतस्रुचः।
ते नो व्यन्तु वार्य्यं देवत्रा क्षेत्रसाधसः ॥ ९५ ॥

ऋक्० ३। ८। ७॥

अर्थ :—(ये) जो (वृक्णासः) [गुरुओंद्वारा] तराशे हुए (क्षमि) पृथिवी (अधि) पर (निमितासः) मर्यादापर चलनेवाले (यतस्रुचः *) ठीक रीतिसे दान करनेवाले (देवत्रा) देवताओंके मध्यमें (क्षेत्रसाधसः) खेतोंको साधनेवाले [हों]। (ते) वे (नः) हमें (वार्य्यं) वरनेयोग्य पदार्थोंको (व्यन्तु) प्राप्त करावें ॥ ४ ॥

सद्गुरुसे शिक्षा पाकर ही मनुष्य बड़ा बनता है। जितनी अविद्या और मूर्खता होती है, उसे वह काट देता है। महापुरुष मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते। दानादिके विषयमें अपने नियमके पक्के होते हैं। अपनी विद्याके बलसे देशको हरी भरी खेतियोंसे सुशोभित करते हैं। उन्हींके संगसे धारण करनेयोग्य गुणोंकी प्राप्ति होती है।

(५) हंसा इव श्रेणिशो यतानाः शुक्रं वसानाः स्वरवो न आगुः। उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद्देवा देवाना-मपि यन्ति पाथः ॥ ९६ ॥ ०—९॥

* स्रुक् यज्ञाग्निमें घृत डालनेके विशेष पात्रको कहते हैं। अर्थात् जिनका होम, यज्ञ, दान आदि नियमपूर्वक चलता है।

अर्थ :—(हंसाः) हंसोंकी (इव) तरह (श्रेणिशः) पंक्ति बांधकर (यतानाः) पुरुषार्थ करनेवाले, (शुक्रं) प्रकाशको (वसानाः) धारण करनेवाले, (स्वरवः) [सर्वहितकारी] उपदेश करनेवाले (कविभिः) विद्वानोंद्वारा (पुरस्तात्) आगे (उन्नीयमानाः) उन्नति करायेहुए (देवाः) विद्वान् (देवानां) विद्वानोंके (पाथः) मार्गको (अपि-यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥५॥

विद्वान् विद्वानोंके मार्गका अवलंबन करते हैं। वे परस्पर मिलकर प्रकाशका विस्तार करते हैं। जिस तरह हंस मिलकर आकाशमें उड़ते हैं, या मानसरोवरमें विचरते हैं, वैसे सच्चे विद्वान् संगठित होकर लोकोपकारमें लगे रहते हैं। उन्हींका सदा सत्संग करना चाहिये, ताकि सबके अन्दर इन भावोंकी उन्नति हो। परस्पर सहयोगसे ही प्राकृतिक जगत्में सारा कार्य चलता है। सामाजिक सफलताका भी यही आधार है।

(६) न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न वोचाम मा सुनोतेति सोमम्। यो मे पृणाद्यो ददद्यो निबोधाद्यो मा सुन्वन्तमुप गोभिरायत् ॥९७॥ ऋक्० २। ३०। ७॥

अर्थ :—(यः) जो (मे) मेरे प्रति (पृणात्) तृप्तिको धारण करनेवाला, (ददत्) दान देनेवाला (नि-बोधात्) [मेरे भावोंको] समझनेवाला [और] (यः) जो (सुन्वन्तं) यज्ञ करतेहुए (मा) मेरे पास (गोभिः) गौओंके साथ (उप-आयत्) आनेवाला है, [वह] (मा) मुझे (न) मत (तमत्) तंग करे, (श्रमत्) थकावे (उत) या (तन्द्रत्) आलसी बनावे [और हमभी] (न) मत (वोचाम्) कहें (इति) कि (सोमं) सोमको (मा) मत (सुनोत) खींचो ॥ ६ ॥

प्यारे सज्जनो, ध्यानसे उपदेष्टा और श्रोता, गुरु और शिष्य तथा नेता और प्रजाके परस्पर व्यवहार तथा प्रत्युपकारके भावको समझलो। उपदेशकको चाहिये कि लोगोंके सेवा-भावसे तृप्त होकर, ज्ञानका दानकर उन्हेंभी तृप्त करे। उनके भावोंको समझकर, धार्मिक कार्य्योंमें उनकी सहायता करे। गौ से तात्पर्य धन, धान्यकी पूर्णता और इन्द्रियोंकी शक्ति है। सच्चा उपदेशक वही है, जो इस अपने कर्त्तव्यको भलीभान्ति पूर्ण करता हुआ, कभी प्रमाद-वश उलटे मार्गपर न स्वयं पड़ता है और न लोगोंको डालता है। इसलिये जनतामें तंगी, शिथिलता या आलस्य पैदा नहीं होते और प्रजा सदा सोम-याग अर्थात् धर्मके कार्योंमें लगी रहती है। उनमें कभी बाधक नहीं होती। एक प्रकारसे समझदार जनता विद्वानोंकी सहायता करती है और वे उसका कल्याण करतेहुए, सामाजिक स्वास्थ्यके निमित्त बनते हैं।

(७) कामेन मा काम आगन् हृदयाद्धृदयं परि। यद्-मीषामदो मनस्तदैतूप मामिह ॥ ९८ ॥ अथर्व० ११।५२।४॥

अर्थ :—(कामेन) कामके साथ (मा) मुझे (कामः) काम (आगन्) प्राप्त हुआ है, (हृदयात्) हृदयसे (हृदयं) हृदय (परि) मिला है। (यत्) जो (अमीषां) उन लोगोंका (अदः) वह (मनः) मन [है] (तत्) वह (मां) मेरे (इह) यहां (उप) पास (आ-एतु) आवे ॥ ७ ॥

महाशयो, सामाजिक सज्जनताका मूल प्रेम है। प्रेम एक ओरसे नहीं, वरन् पारस्परिक होकरही पक्का होता है। काम

अर्थात् इच्छा प्रत्येक हृदयमें उठती है । परन्तु जब लोगोंकी यह इच्छाएं एक दूसरेके अनुकूल होजाती हैं, तभी कल्याण होता है । यह बात हृदयोंके मिल जानेसे और सहानुभूतिके पैदा होनेसे होती है । इसका उपाय यह है कि प्रत्येक साधक मन्त्रके उत्तरार्धमें बतायीहुई विधिके अनुसार सदा लोगोंके मनको समझने तथा अपने समीप लानेका प्रयत्न किया करे । जब अनेक साधक ऐसा करनेवाले होजावेंगे, तो यह मानसिक प्रेम-तरंगें सर्वत्र मित्र-भावका विस्तार कर देंगी ।

माया०—महाराज, यह तरंगें क्या होती हैं ?

महा०—बेटा, जैसे सूर्यकी किरणें होती हैं, वैसी ही सूक्ष्म किरणें अनेक प्रकाशात्मक भौतिक पदार्थोंसे निकलती हैं । विज्ञान-वेत्ताओंने उनके विषयमें विशेष अनुभव प्राप्त किया है । मनोविद्याके शास्त्रियोंका यह सिद्धान्त है कि मनके अन्दर भी यह बल है कि केवल विचारसे ही दूसरोंको प्रभावित कर लें । इस लिये वेदका यह उपदेश है कि अपने हृदयको प्रीतिसे युक्त करके, दूसरोंके मनोंको प्रभावित करो, ताकि वे आपके समीप आवें । आपसका झगड़ा दूर हो । शान्ति प्रेमके प्रभावसे सबका जीवन मधुर होजावे ।

(८) अनमित्रं नो अधरादनामित्रं न उत्तरात् । इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि ॥ ९९ ॥

अथर्व० ६ । ४० । ३ ॥

अर्थ :—(नः) हमें (अधरात्) नीचेसे (उत्तरात्) ऊपरसे (अनमित्रं) शत्रुहीनता [प्राप्त हो] । हे (इन्द्र) (नः)

हमें (पश्चात्) पीछेसे [और] (पुरः) आगेसे (अनमित्रं) शत्रुहीन (कृधि) कर ॥ ८॥

प्यारो, प्रतिदिन उठतेहुए और रात्रिको सोतेहुए, इस भावको हृदयमें धारण करो । अपने आपको समझाओ कि हमारा कोई शत्रु नहीं । सब दिशाओंमें हमारेलिये, विश्व-व्यापी मित्रभावका विस्तार होरहा है । भगवान्से प्रार्थना करो कि सबका भला हो । बुराई किसीके साथ न हो । ऐसा अभ्यास करनेसे चित्त प्रसन्न रहने लगता है और अखण्ड शान्ति रहने लगती है । अन्दर तो अन्दर रहा, बाहिर भी मुखकी कान्ति बढ़ जाती और होठोंपर मुस्क्यान रहती है ।

(९) इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥ १०० ॥ ऋक्० ८ । २ । १८ ॥

अर्थः—(देवाः) देवता (सुन्वन्तं) पुरुषार्थी, धर्मात्मा मनुष्यको (इच्छन्ति) चाहते हैं, (स्वप्नाय) स्वप्न-शीलको (न) नहीं (स्पृहयन्ति) चाहते । (अतन्द्राः) आलस्य-रहित लोग (प्र-मादं) परमानन्दको (यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

जहां सत्संगकी बड़ी महिमा है और मित्र-भावकी बड़ी आवश्यकता है, वहां यह निश्चय जानो कि सदा पुरुषार्थी बननेसे पूर्ण सफलता होगी । केवल पवित्र इच्छाओंसे कोई पवित्र नहीं बनता । बड़े बड़े आदर्शोंके चिन्तनसे ही कोई बड़ा नहीं बनता । यह मनुष्यका कर्म है, जो उसे पवित्र बनाता है, बड़ा बनाता है और जो कामना करे, वह पूरी करा देता है । वेद भगवान्का यह उपदेश है कि अपने पुरुषार्थपर ही अपने

आनन्दका आधार समझो। जो लोग सो जाते हैं, देवता उनसे अप्रसन्न होकर, जागतेहुए लोगोंको आनन्दित करनेकेलिये, उनके हां चले जाते हैं। अपने आप सहायक बनो, तब भगवान् भी सहायता करेगा, गुरु भी सहायता करेगा और सारे देवता भी सहायता करेंगे। मनुष्य अपना आप ही सबसे बड़ा शत्रु और अपना आप ही सबसे बड़ा मित्र है *।

(१०) आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्रवाम तदनु प्रवोळ्हुम्। अग्निर्विद्वान् स यजात् सेदु होता सो अध्वरान् स ऋतून् कल्पयाति॥ १०१॥ ऋक्० १०।२।३॥

अर्थः—[हम] (यत्) जो [कुच्छ] (शक्रवाम) कर सकते हैं (तत्) उसे (अनु) पूरा (प्र-वोढुं) पार पहुंचानेके लिये (आ) अच्छी तरहसे (देवानां) देवताओंके (पन्थां) मार्गको (अपि-आगन्म) प्राप्त हों। (अग्निः) सर्वप्रकाशक, प्रभु (विद्वान्) जाननेवाला [है], (सः) वह (यजात्) यज्ञ करावे (उ) और (सः-इत्) वही (होता) सबका धारण करने तथा सबको दान देनेवाला [है]। (सो) वही (अध्वरान्) यज्ञों [तथा] (ऋतून्) ऋतुओंको (कल्पयाति) सामर्थ्यसे युक्त करे॥ १०॥

---

* उत्तरार्धमें 'प्रमाद'का अर्थ परमानन्द किया गया है। अथवा, (अतन्द्राः) अप्रमादी [भी] (प्रमादं) प्रमादको (यन्ति) प्राप्त होसकते हैं। अर्थात् सदा जागते रहो। कभी अति-विश्वास करके सो ही न जाओ। जीवनकी पूर्णाहुति पर्यन्त चौकीदारी करना आवश्यक समझो।

प्यारे पुत्रो, जितनी शक्ति है, उसके अनुसार अपना कार्यक्रम बनाओ। गौरीशंकरकी चोटी सबसे ऊंची है। जिसको हृदय की दुर्बलता तंग कर रही है, वह वहां नहीं जासकता। पर इसका यह अर्थ तो नहीं कि जहां तक वह जा सकता है, वहां भी न जावे। यहीं बैठा २ रो २ कर दिन पूरे करदे। पुरुषार्थ करनेसे शक्ति बढ़ भी जाती है। आज जो काम नहीं हो सकता, वर्ष भरके अभ्यासके पीछे वही सुगम जचने लगता है। यही देवताओंका मार्ग है। इसका अवलंबन करो और प्रभुकी विभूतिका आश्रय लो। देखो, सारे कार्योंको सिद्ध करनेके लिये प्रभुके रचे हुए जगत्‌के पदार्थोंकी आवश्यकता पड़ती है। उसीके सामार्थ्यसे यह ब्रह्माण्ड-यज्ञ हो रहा है। वही सबसे बड़ा होता और दानी है। किसी छोटेसे कामको करके, भूल कर भी घमण्डमें न आ जाना। इससे आगे कार्य करनेकी शक्ति मारी जाती है। पूरा उद्यम करो और फिर प्रभुपर छोड़ दो। फिर पुरुषार्थ करो और वैसेही भगवानके सपुर्द करदो। इससे असफल होकर शोक न होगा। हां, उत्साह बना रहेगा, और समय आवेगा, जब सफलता भी प्राप्त हो। उदास कभी मत होवो। यही दिव्य-मार्ग है। इसपर चलनेका निरन्तर अभ्यास करते हुए आगे आनेवाले साधनोंको धारणकरो॥

——:०:——

दूसरा खण्ड

आचार-प्रतिष्ठा।

महा०—सज्जनो, सावधान होकर अब सुनते चलें। देखिये, वेद हमें किस प्रकारकी भगवान्‌से प्रार्थना करनेके लिये प्रेरणा करता है।

सत्य०—महाराज, क्या प्रार्थनासेही हमारी तय्यारी पूरी हो जावेगी।

महा०—नहीं, बेटा। साथ आचरण भी करो। प्रभुके चरणोंमें विश्वासपूर्वक प्रार्थना करनेसे साधकका बल बढ़ जाता है।

वस्तु०—तो, क्या इसी लिये वेदके सारे उपदेश प्रायः प्रार्थनाके रूपमें हैं?

महा०—बिल्कुल ठीक। सर्वत्र यही आशय है कि मनुष्य इन बातोंको भगवान्‌से वर मांगे और धारण करनेका प्रयत्न करे। उद्यमी लोग प्रभुविश्वासकी चटानपर खड़े होकर आश्चर्य्यजनक कार्य्य कर जाते हैं। आचारकी प्रतिष्ठाके विना अन्तःकरणका विकास नहीं हो सकता। वेद इस विषयमें क्या सुन्दर उपदेश कर रहा है! सुनो,—

(१) परिमाग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु ॥१०२॥ यजु० ४। २८॥

अर्थः—हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप, प्रभो! (मा) मुझे (दुः-चरितात्) बुरे आचरणसे (परि-बाधस्व) सर्व प्रकारसे

हटा, (मा) मुझे (सुचरिते) अच्छे आचरणमें (आ-भज) अच्छे प्रकार लगा। (उत्) और (सु आयुषा) अच्छे लक्ष्यसे युक्त (आयुषा) जीवनसे [युक्त होकर] (अमृतान्) देवताओं और मुक्तात्माओंके (अनु) अनुकूल चलकर (उत्-अस्थाम्) ऊंचा उठूं॥ १॥

मानसिक तालाबसे गन्दे पानीको पहिले निकालो। फिर शुद्ध जल डालो। जीवनकी भलाईका चिह्न यह है कि मनुष्य सदा उच्च पुरुषोंके जीवनका अनुकरण करे।

(२) प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्। येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥१०३॥ ०—२९॥

अर्थः—[हम] (स्वस्ति-गां) कल्याणकी ओर ले जाने वाले (अनेहसं) हिंसा रहित (पन्थां) मार्गपर (प्रति-आपद्महि) सदा चलें, (येन) जिस [पर चलने] से [मनुष्य] (विश्वाः) सब (द्विषः) दुःखकारक कार्य्योंको (परि-वृणक्ति) छोड़ता [और] (वसु) ऐश्वर्यको (विन्दते) प्राप्त होता है॥ २॥

वह मार्ग कदापि सुख और कल्याणका कारण नहीं हो सकता, जिसपर चलते हुए गढ़ोंमें गिरकर जीवनसे ही हाथ धो बैठे। द्वेष करने वाला मनुष्य वास्तवमें अपनेसे द्वेष करता है। उसे कभी मानसिक शान्ति नहीं मिलती। वास्तविक ऐश्वर्य सदा उससे दूर रहता है। अहिंसात्मक मार्गपर चलनेसे अपना भी और दूसरोंका भी कल्याण करो।

(३) माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त आतानानर्वा प्रेहि। घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु॥१०४॥ यजु० ६। १२॥

अर्थः—[हे साधक], (अहिः) सांप (मा) मत (भूः) बन, (पृदाकुः) अजगर (मा) मत [बन], (आतान) हे विस्तार पानेवाले, (ते) तेरेलिये [सब ओर] (नमः) अन्नादि सामग्री और प्रतिष्ठा [विद्यमान है], (अनर्वा) सवारीके विना (प्र-इहि) चल पड़ो। (ऋतस्य) सच्चाईके (पथ्याः) मार्गोंके (अनु) साथ २ (घृतस्य) घृतकी (कुल्याः) नहरें (उप) समीपवर्त्ती होकर [बहती हैं] ॥ ३ ॥

सरलता आचारका मूलाधार है। कुटिलता सांपोंमें ही रहने दो। वेद मनुष्योंको सांप बननेसे रोकता है। सरल साधक सत्यको धारण करके और किसी सवारीकी परवाह न करे। घोड़े आदिकी सवारीका उद्देश्य शीघ्र पहुंचना होता है। परन्तु वेद कहता है कि सत्यके मार्गपर शनैः शनैः चलनेवाले साधकको किसी प्रकारकी चिन्ता न होनी चाहिये। जीवनकी सामग्रीसे वह कभी तंग न रहेगा। उसकी सारी यात्रा आनन्द, सन्तोष, प्रतिष्ठा और पुष्टिसे युक्त होगी। कुटिलता और झूठसे आरम्भमें शायद कुच्छ सुख मिल जावे। परन्तु उसका परिश्रम दुःखसे भरा हुआ होता है।

(४) सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ १०५ ॥　　ऋक्० ७। १०४। १२ ॥

अर्थः—(चिकितुषे) विद्वान् (जनाय) मनुष्यकेलिये (सुविज्ञानं) भली प्रकार [इस बातका] समझना सुगम है [कि] (सत्) सत्य (च) और (असत्) असत्य (वचसी)

वचन (पस्पृधाते) आपसमें लड़ते रहते हैं । (तयोः) उनमेंसे (यत्) जो (सत्यं) सत्य [और] (यतरत्) जौनसा (ऋजीयः) अधिक सरलतासे युक्त होता है (तत्) उसकी (इत्) ही (सोमः) सर्वैश्वर्यका प्रभु (अवति) रक्षा करता है, (असत्) असत्यका (आ-हन्ति) नाश कर देता है ॥४॥

सत्य और अनृतका परस्पर झगड़ा सदासे चला आरहा है । विद्वान् मनुष्यको चाहिये कि सत्यका आश्रय ले और असत्यका त्याग करे ।

सत्य०—महाराज, यदि असत्य ऐसा बुरा था, तो इसकी उत्पत्ति ही क्यों हुई ?

महा०—भोले भाई, तुम भूल रहे हो । हर प्रकारसे जीवनकी सत्ताको सफल करनेवाले नियमोंका नाम सत्य है । जीवनको नष्ट करनेवाले, दुर्गुणों और दुर्व्यसनोंका नाम असत्य है । बुद्धिका कार्य दोनोंके मध्यमें विवेक करना है । बलवान् आत्माका काम सत्यपर चलना है । बुद्धि और आत्माके बलके सामने असत्य नहीं ठहरता । पर, इस बलके न होनेसे पग पगपर मनुष्य ठोकरें खाता है ।

अन्त०—इसका तो यह भाव हुआ कि संसारमें न सत्य है और न असत्य है ?

महा०—नहीं । प्राकृतिक नियमानुसार जो कुच्छ होरहा है, वह सब सत्य है । प्राणियोंद्वारा जो कुच्छ किया जारहा है, वह सत्यरूप तथा असत्यरूप दो प्रकारका है । इस भेदका कारण पूर्व कहे बलका भेद है । इस लिये अपना बल बढ़ाओ ।

सत्यपर चलो। प्रभुने सबके अन्दर विवेककी शक्ति तथा सत्यके प्रति श्रद्धाको स्थापित किया है।

(५) दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳसत्ये प्रजापतिः ॥१०६॥

यजु० १९। ७७॥

अर्थः—(प्रजापतिः) परमेश्वरने (दृष्ट्वा) देखकर (सत्यानृते) सत्य और असत्य (रूपे) रूपोंको (व्याकरोत्) अलग अलग कर दिया है। (प्रजापतिः) प्रभुने (अनृते) असत्यमें अश्रद्धा [और] (सत्ये) सत्यमें (श्रद्धां) श्रद्धाको (अदधात्) धारण किया है॥ ५॥

बालक स्वभावसे सत्यवादी होता है। शनैः २ सभ्यताका अभिमान करनेवाले लोगोंका अनुकरण करताहुआ असत्यरूप आचरणकी शिक्षा पाता है। अतः सत्यरूप, स्वाभाविक प्रवृत्तिको पहचानकर, उसे उन्नत करनेका अभ्यास करना चाहिये। असत्यरूप कर्मका फल अच्छा नहीं होता।

(६) असद् भूम्याः समभवत् तद् द्यामेति महद्व्यचः।
तद्वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु ॥ १०७॥

अथर्व० ४। १९। ६॥

अर्थः—(असत्) असत्य (भूम्याः) भूमिसे (सम्-अभवत्) उठता है, (तत्) वह (द्यां) आकाशमें (महत्) बड़े (व्यचः) विस्तारको (एति) पाता है। (ततः) फिर (वै) निश्चय करके (तत्) वह (वि-धूपायत्) बड़ा फूलता

हुआ (प्रत्यक्) वापिस (कर्त्तारं) कर्त्ताको (ऋच्छतु) प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

साधारण लोग असत्यके विस्तारको देखकर कुच्छ दबसे जाते हैं। परन्तु वेद भगवान् चेतावनी देता है कि इस ऊपर ऊपरके साफल्यसे मत भूलो। यह सब कुच्छ क्षणिक हैं। अन्तमें उस पापका कर्त्ता जकड़ा जानेवाला है। भला वही है, जिसका अन्त भला है। इस लिये सदा सत्याचरणमें ही श्रद्धा करो।

(७) यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा । यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥ १०८॥ अथर्व ६।१८।२॥

अर्थ :—(यथा) जैसे (भूमिः) भूमि (मृतमनाः) मरे हुए मनवाली, (मृतान्) मुर्देसेभी (मृतमनस्तरा) अधिक मरेहुए मनवाली [है], (उत) तथा (यथा) जैसे (मम्रुषः) मरेहुएका (मनः) मन [मुर्दा होजाता है] (एव) ऐसेही (ईर्ष्योः) ईर्ष्या करनेवालेका (मनः) मन (मृतं) मरजाता है॥७॥

सत्याचरणी ईर्ष्या और द्वेषके इस भयानक परिणामको समझते हैं। वे इस हृदयाग्निमें नहीं झुलसते और जलते। वे सबकी उन्नति चाहते हैं। मिट्टी और पत्थरमें दिल नहीं, मुर्दा शरीरमें दिल ठण्डा पड़जाता है। परन्तु ईर्ष्या करनेवाला जीवित जाग्रत् होता हुआभी अपने हृदयको पत्थर और मुर्दा होनेसे नहीं बचा सकता। वह अपनीही जलाईहुई भट्टीमें दिनरात धुखता रहता है।

(८) यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्। रिपुः स्तेनः स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च ॥ १०९ ॥ ऋक् ७। १०४। १०।

अर्थ :—(यः) जो (नः) हमारे मध्यमें (पित्वः) अन्नके (रसं) रसके विषयमें, (यः) जो (अश्वानां) घोड़ों (गवां) गौओंके (तनूनां) शरीरोंके संबंधमें (दिप्सति) धोखा करता है, हे (अग्ने) सर्वज्ञ, प्रभो, (सः) वह (रिपुः) शत्रु (स्तेनः) चोर (स्तेयकृत) चोरी करनेवाला (दभ्रं) नीचताको (एतु) प्राप्तहो। (च) और (तन्वा) स्वयं [तथा] (तना) सन्तानके विषयमें (नि हीयतां) पतितहो ॥ ८ ॥

प्यारो, कितने दुःखकी बात है। आज इस देशमें न अन्न ठीक मिलता है और न दूध और घी मिलता है। वेदके शब्दोंमें पापी लोग अन्नके रस और पशुओंके शरीरकी चोरी कर रहे हैं। राजाका कर्त्तव्य है कि इन सामाजिकशत्रुओंको उचित दण्ड देवे। कितना शोक है कि जहांके धर्म-ग्रन्थोंका यह आदर्श था, वहांही ऐसा अनर्थ होरहा है।

(९) परः सो अस्तु तन्वा तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः। प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥ ११० ॥ ०—११

अर्थ :—(यः) जो (नः) हममेंसे (दिवा) दिनको (च) या (नक्तं) रातको (दिप्सति) दम्भ [और चोरी आदि] करना चाहता है, हे (देवाः) देवताओ, (अस्य) इसका (यशः)

यश (परि) पूरी तरह (शुष्यतु)सूखजावे। (सः) वह (तन्वा) स्वयं (च) और (तना) सन्तानके विषयमें [सभ्य समाजसे] (परः) बाहिर (अस्तु) हो, [वह] (विश्वाः) सारी (तिस्रः) तीनों (पृथिवीः) पृथिवियोंके (अधः) नीचे (अस्तु) हो ॥९॥

वेद भगवान्के सभ्य समाजमें दम्भी, पाखण्डी, चोरोंका कोई स्थान नहीं। पृथिवीपर उनका रहना ठीक नहीं। एकके स्थानपर तीन पृथिवियांहों और उनसेभी नीचे कोई स्थानहो, तो वहां ऐसे दुष्कर्मियोंको धकेल देना चाहिये। यह कर्म यशके घातक हैं। प्रत्येक साधकको अपना घर इनसे बचाकर, शुद्ध रखना चाहिये।

(१०) देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना। वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः ॥१११॥ यजु० १९।१२

अर्थ :—(इन्द्राय) इन्द्रकेलिये (इन्द्रियाणि) इन्द्रियोंको (दधतः) धारण करनेवाले [साधक] की (सरस्वती) विद्या (वाचा) वाणीद्वारा (भिषक्) वैद्य [का काम करती] है। [उसके लिये] (देवाः) देवता (यज्ञं) यज्ञका (अतन्वत) विस्तार करते हैं, (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्वी (भेषजं) चिकित्साका [विस्तार करते हैं ॥ १० ॥

इन्द्र जीवात्माका नाम है। जो साधक इन्द्रियोंके अधीन न होकर, उनको अपने वशमें रखता है, उसकी वाणीमें लोगोंके लिये विशेष, हितकारी प्रभाव होता है। उसकी सम्मतिसे चलकर, उनके सकलदोष दूर होजाते हैं। वह जहां देखता है, यज्ञ अर्थात् परोपकारके विस्तारकोही देखता है। अश्वी,

अर्थात् सूर्य और चन्द्र अथवा दिन और रात, प्रतिक्षण संसारके दुःखहरणकी सामग्री उसके आगे रखते रहते हैं। संयमी मनुष्य स्वयं सुखी रहता और दूसरोंको सुखी बनाता है।

(११) सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्। आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥११२॥　　ऋक्० १०।५।६॥

अर्थ :—(कवयः) विद्वानोंने (सप्त) सात (मर्यादाः) मर्यादाएं (ततक्षुः) बनाई हैं, (तासां) उनमेंसे (एकां-इत्) एककोभी [जो] (अभि-गात्) उल्लंघन करे, [वह] (अंहुरः) पापी [होता है]। (ह) निश्चय करके (आयोः) जीवनका (स्कंभः) आधार (प्रभु) (उपमस्य) समीपवर्ती (नीडे) मकानमें [अर्थात् भूमिपर] (पथां) मार्गोंके (विसर्गे) विस्तारके स्थान [=अन्तरिक्ष] में (धरुणेषु) जलोंमें (तस्थौ) विराजमान है।

सामाजिक शान्तिके लिये वैदिक ऋषियोंने सात मर्यादाओंको उल्लंघन करना पाप माना है। (१) चोरी (२) कामातुरता (३) हिंसा (४) असत्य (५) नशीले द्रव्योंका सेवन (६) जुआ और (७) इस प्रकारके व्यसनोंमें पड़कर, ज्ञान होनेपर भी छूट न सकना—यह भयंकर परिणाम है, जिनसे बचनेकेलिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय संयम, ऋजुता, न्याय तथा अलोभ आदि मर्यादाओंके अन्दर रहना चाहिये। परमात्मा जल, स्थल और आकाशमें विराजमान होकर; घर २ का अन्तर्यामी बना हुआ है किसी प्रकारके बाह्य अथवा आन्तरिक पापको मनुष्य उससे छिपा नहीं सकता।

वस्तु०—महाराज, इस प्रकार और धर्मपुस्तकोंने भी नियम बांधे हैं?

महा०—हां, बेटा, प्रायः जितने सम्प्रदाय हैं, सबके धर्मग्रन्थोंमें इस प्रकारका वर्णन मिलता है। परन्तु वेदके शब्दोंमें जो बल है, वह और कहीं नहीं। धार्मिक दृष्टिसे उच्चसे उच्च आदर्श यह पवित्रग्रन्थ आपके सामने रखता है।

सत्य०—और, यह है सबसे पुराना ग्रन्थ।

महा०—निस्सन्देह। वेद सब धर्मपुस्तकोंसे प्राचीन होता हुआ भी सबसे अधिक शिक्षादायक है। वैदिक सभ्यता आदर्श सभ्यता है। इन प्रमाणोंके होते हुए, जो उत्तरोत्तर विकासवादी वेदकी निन्दा करते हैं, वे सूर्य पर थूकते हैं।

माया०—महाराज, अब और क्या प्रसंग चलेगा?

महा०—बस, आज इतना ही बहुत है। कल इस बातपर विचार करेंगे, कि इन बातोंको हम धारण कैसे कर सकते हैं।

——:o:——

तीसरा खण्ड

यात्राका आरम्भ।

लोक०—महाराज, जिस वैदिक मार्गको आपने उपदेश किया है, उसपर अब चलनेकेलिये आवश्यक तय्यारी क्या होनी चाहिये?

महा०—प्यारे बेटा, मार्गको जब जान लिया, तो उसपर चल पड़ना ही तय्यारी है। जैसा यह मानसिक मार्ग है, ऐसीही

इसके लिये तय्यारी भी मानसिक चाहिये। सबसे प्रथम प्रतिदिन प्रातः उठकर मधुर स्वरसे प्रभुसे यह प्रार्थना किया करो।

(१) अग्ने त्वं सुजागृहि वयꣳसुमन्दिषीमहि। रक्षाणो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥११३॥ यजु० ४।१४॥

अर्थः—(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप, भगवन्, (त्वं) आप (सु) अच्छी तरहसे (जागृहि) जागें, (वयं) हम (सु) अच्छी तरहसे (मन्दिषीमहि) आनन्द पावें। (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित होकर (नः) हमारी (रक्षा) रक्षा करो। (नः) हमें (पुनः) (प्रबुधे) जागनेके [योग्य] (कृधि) बनाओ॥१॥

भगवन्; आपका ज्ञान सदा एकरस बना रहता है। परन्तु हम अपनी भूलसे आपकी छत्रच्छायाके नीचे रहतेहुए भी; आपकी दया तथा सहायताके पात्र नहीं बनते। हे हमारे हृदयोंके स्वामिन्, आवरण दूर हो, अविद्याका नाश हो। हम अज्ञानकी लपेटमें आकर गाढ़ निद्रामें सोतेहुए, आपको भी सोयाहुआ समझे बैठे थे। हे भगवन्, जो हुआ, सो हुआ। अब सर्वत्र जागृति हो। प्रमाद दूर हो। आपकी कृपासे यह हमारी धार्मिक जीवन-यात्रा सफल हो।" इस प्रकार भगवान्की आराधना करके अपने दिन भरके कार्य्योंको उत्साहसे करनेका संकल्प धारण करो। जीवनमें मिठास पैदा करनेका प्रयत्न करो। घबराहटसे कोई काम मत करो।

(२) मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥११४॥ अथर्व० १।३४।३॥

अर्थः—(मे) मेरा (निक्रमणं) पग धरना (मधुमत्) मिठाससे युक्त [हो], (मे) मेरा (परा-अयनं) आगे बढ़ना (मधुमत्) मीठा [हो]। (वाचा) वाणीसे (मधुमद्) मीठा (वदामि) बोलूं। (मधुसन्दृशः) मधुर दृष्टिवाला (भूयासं) होऊं ॥२॥

प्रत्येक साधकको संसारके अन्दर रहकर ही सिद्धि प्राप्त करनी है। दूसरोंके साथ व्यवहारमें आना पड़ेगा। सबका स्वभाव एक जैसा नहीं होगा। सब प्रकारके लोगोंसे संसर्ग होगा। प्यारो, देखना, कहीं साधक बनतेहुए असहिष्णु होकर अपना ही योग खराब न कर बैठना। जिस मार्गपर अब तुम चलोगे, उसपर सर्व साधारण नहीं चलते। इस लिये कहीं उनके प्रति तुम्हारे अन्दर घृणाका भाव न पैदा होजावे। वेदका यह सन्देश रहस्यसे पूर्ण है। यह अनुभव किया गया है कि संयमी और अभ्यासी लोगोंमें कुच्छ चिड़चिड़ापन आजाता है। यह ठीक नहीं है। वह योग क्या हुआ, जो मिठासको ही हर ले। इस लिये वेद भगवान्के इशारेको समझो। उत्साह और माधुर्य्यसे युक्त होकर कार्यका आरम्भ करो। वैसे ही उसमें आगे बढ़ चलो। जब दूसरोंसे बोलो, मीठी वाणी बोलो। जब उनकी ओर देखो, मिठाससे भरी आंखसे देखो। सबसे प्रीति और मित्रभाव रक्खो। अशान्ति और क्रोधको अपनी शान्तिके अमृतसे ठण्डा कर दो। जब कोई क्रोध करे, तो उसे यह कहो—

(३) अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः। यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै ॥११५॥ अथर्व०६।४२।१॥

अर्थ :—[हे सज्जन,] (धन्वनः) कमानके (ज्यां) चिल्लेकी (इव) तरह (ते) तेरे (हृदः) हृदयके (मन्युं) उबालको (अव-तनोमि) ढीला करता हूं । (यथा) ताकि (संमनसौ) एक मनवाले (भूत्वा) होकर (सखायौ-इव) मित्रोंके समान (सचावहै) मिलकर कार्य करें ॥ ३ ॥

प्यारो, ऐसा कहकर, अपनी शान्तिसे उसे शान्त कर सकतेहो । पर जब दोनोंही वीर कमान कसकर खोलरहे हों, तो शान्ति कैसे रहे ? मित्रता कैसे रहे ? मिलकर कार्य कैसे हो? संसारका कल्याण कैसे हो ? मानस योगकी सिद्धि कैसे हो ?

(४) अश्मन्वती रीयते सं॑ रभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः । अजात्रहीमो ऽशिवा ये असञ्छिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ ११६ ॥　　　　यजु० ३५ । १० ।

अर्थ :—(अश्मन्वती) पत्थरोंवाली [नदी] (रीयते) चलरही है, (सं-रभध्वं) तय्यार होजाओ, (उत्-तिष्ठत) उठो (सखायः) मित्र [बनकर] (प्र) अच्छी तरहसे [उसे] (तरत) पार करो । (अत्र) यहां [परही] (ये) जो (अशिवाः) दुःख देनेवाले [पापात्मक विचार तथा कर्म] (असन्) हों, [उन्हें] (वयं) हम (जहीमः) छोड़ते हैं, (शिवान्) मंगल करनेवाले (वाजान्) बलादिको (अभि-उत्तरेम) अच्छे प्रकार प्राप्तहों ॥४॥

माया०—महाराज, यह नदी कौनसी है ? क्या संसारसे तात्पर्य है ?

महा०—हां, यही पत्थरोंवाली नदी है, जिसे हम सबने पार करना है । यह कठिन कार्य है । पहाड़ी लोगोंको ऐसी

नदियां पार करतेहुए आपने देखा होगा। चार २ पांच २ मनुष्य एक दूसरेका हाथमें हाथ पकड़कर, इनके बड़े २ वेगोंको पार करलेते हैं। अकेले दुकेलेका यह काम नहीं। सोये हुओंका यह काम नहीं। अतः संगठित होकर, परस्पर सहायक बनकर चलो। अमंगल और असत्यके विचारोंको यहीं छोड़दो। बल, उत्साह और सिद्धिके संकल्पोंसे अपने मनको भरदो। पुण्य और पापका मेल नहीं होसकता, यह निश्चय जानो।

(५) यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे। ताभिष्ट्वमस्माँ अभि सं विशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः ॥११७॥ अथर्व० ६।२।२५॥

अर्थ:—(काम) हे काम, (याः) जो (ते) तेरे (शिवाः) शान्ति करनेवाले (भद्राः) कल्याणयुक्त (तन्वः) स्वरूप [हैं], (याभिः) जिनकेद्वारा (यद्) जो कुछ (वृणीषे) तू चाहता है [वह] (सत्यं) पूरा (भवति) होजाता है। (ताभिः) उनके साथ (त्वं) तू (अस्मान्) हमारे (अभि-सं-विशस्व) अन्दर प्रविष्ट हो, (पापीः) पापी (धियः) वासनाओंको (अन्यत्र) बाहिर (वेशय) कर दे ॥ ५ ॥

मानसिक सागरमें इच्छाकी तरंगें उठती रहती हैं। यह पुण्य, पापके भेदसे दो प्रकारकी हैं। हे साधको, अपने मनको पुकारकर कह दो कि कोई बुरी इच्छा पैदा न हो। जो इच्छा पैदा हो और पूरी न हो, या मनुष्यको हानि पहुंचावे, वह निर्बल बनाती है। अतः क्रियात्मक योगकी सिद्धिका यही उपाय है, कि छोटा पग धरो, पर वह निश्चल भूमिपर हो।

तुम्हारी चाल प्रतिष्ठा और स्थिरतासे युक्त हो । इसका परिणाम यह होगा कि जहां भी सांझ होजावेगी, वहीं तुम प्रतिष्ठित होसकोगे । यह अनुभव नहीं होगा कि कहां निकल आये । यहां तो निर्जन वन है और कोई सहारा नहीं है । इस लिये इच्छाओंकी डोरी इतनी लम्बी मत छोड़ो, कि तुम्हारे वशसे बाहिर होकर, कष्टका साधन बन जावें । और, इस बातका भी ध्यान रक्खो कि वे सदा शिवरूप और मंगलमय हों । ऐसा साधन और अभ्यास करनेसे चित्तका प्रसाद प्राप्त होगा और जो व्रत ग्रहण करोगे, उसके पूरा करनेमें सुभीता होगा ।

(६) तपश्चास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे । तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ११८ ॥ अथर्व० ११ । ८ । ६ ॥

अर्थः—(महति) बड़े (अर्णवे) समुद्रके (अन्तः) अन्दर (तपः) तप (च) और (कर्म) (आस्तां) थे । (तपः) तप (ह) निश्चय करके (कर्मणः) कर्मसे (जज्ञे) पैदा हुआ, (तत्) उसे (ते) उन्होंने (ज्येष्ठं) सबसे बड़ा [मानकर] (उपासत) धारण किया ॥ ६ ॥

सब प्रकारकी उन्नतिका मूल कर्म है । इस महासागर, संसारकी उत्पत्तिमें भगवानकी प्रेरणासे सब कुच्छ हुआ । वही प्रेरणा कर्मका बीज हुई । सारा जप, तप, ध्यान और योगाभ्यास शारीरिक या मानसिक कर्मरूप है । कर्मको ही सब साधनोंसे श्रेष्ठ और सबका मूलकारण समझो । इसीकी उपासना करके देवताओंका देवतापन, ऋषियोंका ऋषिपन और महात्माओंका महात्मापन सिद्ध हुआ । इसे धारण करो । कर्म-

हीनता महापाप है। कर्मण्यता महापुण्य है। इस लिये वेद भगवान् इस पवित्र मार्गके पथिकोंको उपदेश करता है कि वे कर्मवीर, धर्मपरायण बननेका यत्न करते रहें।

(७) भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥ ११९ ॥ अथर्व० १६।४१।१॥

अर्थः—(स्वर्विदः) आनन्दरूप लक्ष्यको समझनेवाले (ऋषयः) ऋषियोंने (भद्रं) कल्याणकी (इच्छन्तः) इच्छा करतेहुए (अग्रे) पहिले (तपः) तप [और] (दीक्षां) दीक्षाको (उप-निषेदुः) धारण किया। (ततः) फिर (राष्ट्रं) राष्ट्र (बलं) बल (च) और (ओजः) ओज (जातं) पैदा हुआ (तत्) इसलिये (अस्मै) इस [साधन] को (देवाः) विद्वान् (उप-संनमन्तु) आदरसे धारण करें ॥ ७ ॥

प्यारे साधको, सुख प्रत्येक प्राणी चाहता है, परन्तु उसे पाता नहीं। ऋषि भी सुख चाहते हैं। परन्तु वे पहिले ज्ञान-चक्षुसे अविनाशी सुखके स्वरूपको समझकर, उसे धारण करनेकेलिये तप और दीक्षाका आश्रय लेते हैं। कर्म करना ठीक है। परन्तु प्रत्येक कर्म एक जैसा नहीं होता। वही कर्म श्रेष्ठ है, जो साधकके तपको सिद्ध करावे लक्ष्यतक पहुंचनेके लिये कर्म बराबर जारी रहे। सैंकड़ों और लाखों विघ्न आवें। रोग हो, निर्धनता हो। राज्य-कोप हो, समाज-कोप हो, विश्वास-घात हो, मित्र-द्रोह हो। जो कुच्छ हो, सो हो। परन्तु कार्य्य-सिद्धिका उद्देश्य न ओझल हो। इस मानसिक धारणाके

क्रियात्मकरूपका नाम तप है । यह श्रेष्ठ कर्मरूपी बीजका सुगन्धियुक्त फूल है । दीक्षाका भाव है, उचित योग्यता । जिस कार्यको सामने रखो, उसकेलिये अधिकारी भी बनो । एक बालक बड़ा परिश्रमी है । परन्तु अज्ञानके कारण वह चाहता है कि अभीसे सबसे ऊंची परीक्षाको पास कर लूं । क्या उसका तप काम आवेगा ? नहीं, क्योंकि वह उस कार्यमें दीक्षित हुए विना लग रहा है । हां, उसे धैर्य्य धारण करके छोटी परीक्षाओंको क्रमसे उत्तीर्ण करना चाहिये । समय आवेगा, जब वह अन्तिम परीक्षाको भी पार कर सकेगा । इसी आशयसे ऋषियोंने अधिकारी-भेदसे भिन्न २ आश्रमों और वर्णोंका विभाग किया और सबके भिन्न २ कर्म तथा धर्म निश्चित किये ।

ज्ञानपूर्वक तप और दीक्षाको धारण करनेसे, वेदके उपदेशानुसार लोक और परलोककी संपत्ति मिलजाती है । राज्यबल मांगो, धन, धान्य मांगो, ब्रह्मवर्चस मांगो, तेज और कान्ति मांगो, जो चाहो, सो मांगो । सब मिलेगा । परन्तु प्रत्येक साधकको कल्याणका द्वार तप और दीक्षाके मार्गपर चलतेहुएही दिखाई पड़ेगा । यह द्वार सबकेलिये एक जैसा खुला है । यही वैदिक शिक्षाका महत्त्व है । सारे संसारको एक बात कहदी है । भिन्न २ व्यक्तियां और जातियां अपनी २ परिस्थिति और अधिकारके अनुसार इसपर आचरण करें और सुख पावें ।

(८) व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ १२० ॥

यजु० १९ । ३० ॥

अर्थ :—(व्रतेन) व्रतके द्वारा [साधक] (दीक्षां) दीक्षाको (आप्नोति) प्राप्त होता है, (दीक्षया) दीक्षाद्वारा (दक्षिणां) दक्षिणाको (आप्नोति) प्राप्त होता है। (दक्षिणा) (श्रद्धां) श्रद्धातक (आप्नोति) लेचलती है, (श्रद्धया) श्रद्धा-द्वारा (सत्यं) सत्यकी (आप्यते) प्राप्ति होती है॥ ८॥

सज्जनो, इस मंत्रने आपकेलिये चार पड़ाव बना दिये हैं। आपके मनमें यह इच्छा उठ रही होगी, कि हम तप और दीक्षाको धारण करके, मनोरथ सफल करें, आपकी यह इच्छा बड़ी पवित्र है। परन्तु यदि वास्तवमें सिद्ध होना चाहतेहो, तो व्रत ग्रहण करो। कोई बात निश्चित करलो। उदाहरणकेलिये दोनों समय सन्ध्या करनेका व्रत ग्रहण करो। अब सोचो, सन्ध्या कैसे करोगे। आपको मन्त्र स्मरण करके, उनका अर्थ समझना चाहिये। केवल तोतेकी तरह रटनेका कोई आत्मिक लाभ नहीं होसकता। इसलिये किसी योग्य गुरुके पास पहुंचो। सेवा तथा योग्यतासे उसकी कृपाके पात्र बनो और उसके उपदेशसे सच्चे आस्तिकभावसे युक्त होकर, सन्ध्याके आसनपर बैठनेके अधिकारी बनो। अब आप दीक्षारूपी दूसरे पड़ावपर पहुंच चुकेहो। अब ध्यानसे चलना। मन चंचल है। इधर उधर भटकावेगा। इसकी बातोंमें आकर, कहीं इधर उधर भटकने न लग जाना। यदि रातभर जागते रहे, नाटकों और तमाशोंमें फिरते रहे, तो प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठ नहीं सकोगे। यदि व्यायाम, स्नान, दन्तधावनादि शारीरिककार्य ठीक न करोगे, तो ध्यान स्थिर नहीं होगा और आसनभी ठीक न लग सकेगा। परिणाम यह होगा कि तुम्हारा संध्याका व्रत सफल

न हो सकेगा, इसलिये अपने सारे जीवनको, खान, पान, शयन और जागरणको नियममें लाकर, संध्या करनी आरंभ करो, तो मार्ग विस्तृत होने लगेगा। स्वास्थ्य बढ़कर शारीरिक सुख होगा। मानसिक शान्ति प्राप्त होने लगेगी, काम करनेमें चित्त लगेगा। यही दक्षिणाकी प्राप्ति है। अब तुम्हारा विश्वास बढ़ेगा। सन्ध्यामें अधिक चित्त लगेगा। इसके सामने शेष सुख तुच्छ प्रतीत होंगे। श्रद्धाकी मनमें प्रतिष्ठा होगी। समय आवेगा, जब कि योगयुक्त होकर, तुमलोग नित्यानन्दके भागी बनो। यही सत्यकी प्राप्ति है। प्यारो, व्रत, दीक्षा, दक्षिणा और श्रद्धाके चार स्तंभोंपर सत्य-देवताका विशाल भवन खड़ा है। इन्हें उक्त प्रकारसे समझो और धारण करो।

(९) अग्ने व्रतपते व्रतञ्चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ १२१ ॥

यजु० १। ५॥

अर्थः—हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप, (व्रतपते) व्रतोंके रक्षक, (व्रतं) व्रतका (चरिष्यामि) पालन करूंगा, (तत्) इसलिये (शकेयं) सामर्थ्यसे युक्त होऊं, (मे) मेरा (तत्) वह [व्रत] (राध्यतां) सिद्ध हो। (इदं) यह (अहं) मैं (अनृतात्) असत्यसे [निकलकर] (सत्यं) सत्यको (उपैमि) पाऊँ॥ ६॥

महाशयो, इस सत्य-ग्रहणरूपी व्रतको सबसे पहिले धारण करो। सदा अब इसका ही ध्यान रखना। मन, वचन और कर्मसे कभी भूलकर भी असत्यका विस्तार न करना। सत्यके मण्डन और असत्यके खण्डनकेलिये सदा उद्यत रहना।

(१०) प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन। न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्॥ १२२॥ ऋक्० ३।५९।२॥

अर्थः—(मित्र) हे सर्व ससारके मित्र, प्रभो, (आदित्य) अखण्ड नियमोंके स्वामिन्, (यः) जो (ते) तेरे(व्रतेन) व्रतके अनुसार (शिक्षति) कार्य करता है, (सः) वह (मर्तः) मनुष्य (प्रयस्वान्) धन, धान्यसे युक्त होकर (प्र-अस्तु) उन्नत हो। (त्वोतः) तुझसे रक्षित होकर (न) [वह] (हन्यते) मारा जाता [और] (न) (जीयते) जीता जाता है, (न) (अन्तितः) समीपसे [और] (न) (दूरात्) दूरसे (एनं) उसे (अंहः) पाप (अश्नोति) छूता है ॥ १० ॥

इस प्रकार, प्यारो, जगदीश्वरकी आज्ञाओंको अपने जीवनका आधार बनातेहुए, धार्मिक व्रतोंको धारण करतेहुए, मधुरता और शान्तिको अपने आचरणका भूषण बनातेहुए, इस यात्राका आरंभ करो। इसका फल शान्ति और कल्याण होगा। इसका वर्णन कल करूंगा।

—:-o-:—

चौथा खण्ड

शान्तिका सन्देश।

महा०—प्यारे सज्जनो, जिन बातोंको आप कुछ दिनसे सुनते चले आरहे हो, वह एक नया संसार है। अह, जहां न राग हो, और न द्वेष हो, न वैर हो, और न ईर्ष्या हो, न शोक

हो और न मोह हो, वहां पहुंचना कितने सौभाग्यकी बात है। सारे व्यवहार प्रेम और सहयोगसे चलते हों। कोई किसीको धोखा न दे। कोई असत्य न बोले। सत्य है, यह नया संसार है। परन्तु वेद हमें वहीं पहुंचनेका उपदेश करता है।

(१) विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव। अति गाहेमहि द्विषः ॥ १२३ ॥ ऋक्० २।७।३॥

अर्थ:—(उत) और [हे प्रभो,] (त्वया) तेरी सहायतासे (वयं) हम (उदन्याः) जलकी (धाराः) धाराओंकी (इव) तरह (विश्वाः) सब प्रकारकी (द्विषः) द्वेषकी भावनाओंको (अति गाहे-महि) लांघ सकें ॥ १ ॥

प्यारो, यही प्रभुसे नित्य वरदान मांगा करो। वर्षोंकी कमाई थोड़ी-सी द्वेष-बुद्धिके आजानेसे मिट्टीमें मिल जाती है। प्रभो, संसारके लोग परस्पर द्वेष करना छोड़ दें।

(२) इदमुच्छ्रेयोवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्। असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ॥ १२४ ॥ अथर्व० १९।१४।१॥

अर्थ:—(इदं) इस (अवसानं) अन्तिम (श्रेयः) कल्याण [=जीवनमुक्ति] को (उत-आगां) प्राप्त होचुका हूं, (मे) मेरेलिये (द्यावापृथिवी) भूमि और आकाश (शिवे) शिवरूप (अभूतां) होचुके हैं। (मे) मेरे (प्रदिशः) [सब] प्रदेश (असपत्नाः) शत्रुरहित (भवन्तु) हों, (वै) क्योंकि [हे

संसार] (त्वा) तेरे साथ [हम] नहीं (द्विष्मः) द्वेष करते, (नः) हमारेलिये (अभयं) अभय (अस्तु) हो ॥ २ ॥

प्यारो, भगवान्का भक्त जिस शिखरपर चढ़कर यह घोषणा करता है, वह हमें यहांसे पूरी तरह दिखाई भी नहीं देती। परन्तु वेद भगवान्के आदर्शके अनुसार, यह उच्च दशा सबको प्राप्त होसकती है। साधनाकी आवश्यकता है। पूर्व कहे मार्गके अवलम्बनसे ही मनुष्य इस मस्तीका लाभ कर सकता है। उस समय उसे चारों ओर शान्ति और प्रेमके ही दृश्य दिखाई देते हैं। वह स्पष्टरूपसे अनुभव करता है कि मैं किसीसे द्वेष नहीं करता और मेरेलिये कहीं भय नहीं। इस अवस्थाकी प्राप्तिकेलिये हम सबको लगे रहना चाहिये।

(३) वैश्वदेवीं वर्चस आरभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः। अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥ १२५ ॥ अथर्व० १२। २। २८॥

अर्थः—[हे साधको] (वर्चसे) प्रकाश [की प्राप्ति] केलिये (वैश्वदेवीं) सब देवताओंके साथ सम्बन्ध रखनेवाली [जीवन-नीति] को (आ-रभध्वं) धारण करो, (शुद्धाः) शुद्ध (शुचयः) पवित्र (पावकाः) शुद्ध करनेवाले (भवन्तः) होतेहुए, (दुरिता) बुरे (पदानि) मार्गोंको (अतिक्रामन्तः) लांघतेहुए [हम] (सर्ववीराः) सब वीरोंसे युक्त होतेहुए (शतं) सौ (हिमाः) वर्ष (मदेम) आनन्द करें ॥ ३ ॥

पूर्व कही जीवन-नीतिहीका आश्रय करनेसे सम्पूर्ण आनन्दकी प्राप्ति होगी। उसको धारण करतेहुए दो बातोंका

सदा ध्यान रखना चाहिये। हम स्वयं शुद्ध हों। जो हमारे साथ रहे, वह भी शुद्ध होजावे। बुराईसे परे परे रहकर साधनामें लगे रहना चाहिये। यह कार्य वीरोंका है। असफलतासे निराश होकर आत्म-घातकेलिये तय्यार होजानेवाले कायरोंका नहीं। अतः वेदका यह उपदेश है कि वीर बनकर सारी आयु इस पवित्र पुरुषार्थमें लगे रहना चाहिये। शनैः २ बुद्धिकी स्थिरता प्राप्त होने लगती है।

(४) तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहंवृणे सुमतिं विश्ववाराम्। यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय ॥ १२६ ॥　　　　अथर्व० ७। १५। १॥

अर्थ :—(सवितः) हे सर्व-प्रेरक, प्रभो, (तां) उस (सत्यसवां) सत्यको पैदा करनेवाली (सुचित्रां) आश्चर्यरूप, (विश्ववारां) सर्व मनोरथोंको देनेवाली (सुमतिं) सुमतिको (यां) जिसे (अस्य) इस [बात] का (कण्वः) विद्वान (महिषः) महत्त्वको प्राप्त हुआ २, [इस] प्रपीनां) अच्छी तरहसे उन्नत, (सहस्रधारां) सहस्रों धाराओंवालीको (अदुहत) दोहता है, (अहं) मैं [भी उसेही] (आवृणे) वरता हूं ॥ ४ ॥

यहां पर सुमतिको कामधेनुकी तरह दोही जानेवाली, सब मनोरथोंकी सिद्ध करानेवाली कहा है। पूर्व कहे प्रकारसे स्थिरमति पैदा होती है। उसकी स्थिरताका यह चिह्न है कि अब जोभी मनमें विचार उठता है, वह स्वभावसेही सच्चा होता है। यह दिव्य-सम्पत्ति है। इसे कौन नहीं चाहता ? पर वेद भगवान् बतलाता है कि इस सुरगवीको आप्त, विद्वान पुरुषही दोहना

जानते हैं। पूर्व प्रसंगोंमें बतायेहुए लंबे और कठिन मार्गपर चलनेकाही यह फल होसकता है। इसीकी प्राप्ति धीर, वीर पुरुषोंका लक्ष्य होता है।

(५) त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा। तव व्रते कवयो विद्मनापसो ऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥ १२७ ॥ यजु० ३४। १२ ॥

अर्थ :—(अग्ने) हे सर्वज्ञ प्रभो, (त्वं) आप (देवानां) देवताओंके (शिवः) कल्याणकारी (सखा) मित्र, (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ (अंगिराः) प्राणरूप (ऋषिः) सर्वदर्शी (देवः) प्रकाश-स्वरूप (अभवः) हो। (तव) आपके (व्रते) व्रतके अनुसार [चलकर] (कवयः) बुद्धिमान (आपसः) कर्मवीर (मरुतः) विद्वान् (विद्मना) ज्ञानसे [युक्तहोकर] (भ्राजदृष्टयः) चमकनेवाली दृष्टिसे युक्त (अजायन्त) होजाते हैं ॥ ६ ॥

सज्जनो, जैसा आदर्श मनुष्यके सामने रहता है, वह वैसाही अपने आप बनता चलाजाता है। अतः वेद भगवान् बतलाता है कि ऋषियोंकी दृष्टिकी सूक्ष्मताका कारण यह होता है कि वे प्रभुके प्रकाशको अपना लक्ष्य बनाते हैं। वे कर्ममें निपुण और बुद्धिमान् तो होतेही हैं। जब प्रभुके अनुपम प्रकाशके साथ उनका संबंध जुड़जाता है, तो फिर बिल्कुल कोई न्यूनता नहीं रहती। प्रभुके व्रतोंको पालन करनेका उन्हें यह प्रसाद मिलता है।

(६) दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि स-

मीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १२८ ॥ यजु० ३६ । १८ ॥

अर्थः—(दृते) हे दुःखनाशक प्रभो, (मा) मुझे (दृंह) पक्काकर, (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (मा) मुझे (मित्रस्य) मित्रकी (चक्षुषा) आंखसे (समीक्षन्तां) देखें, (अहं) मैं (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणियोंको (मित्रस्य) मित्रकी (चक्षुषा) दृष्टिसे (समीक्षे) देखता हूं, [हमसब] (मित्रस्य) मित्रकी (चक्षुषा) आंखसे (समीक्षामहे) देखते हैं ॥ ६ ॥

प्यारो, एक और रहस्यकी बात समझ लो । संसारसे प्रेमकी आशा करनेसे पहिले, स्वयं प्रेम करना सीखलो। किसीसे घृणा मत करो । सारे प्रेमका यह मूल हेतु है । सारा जगत् प्रेमके सूत्रमें बंधा हुआ प्रतीत होने लगेगा । जो आप तो आगे बढ़ते नहीं, केवल दूसरोंसे अधिक आशाएं रखते हैं, वे निराश होकर दुःख पाते हैं । प्रभुने प्राणियोंको शत्रुताके लिये नहीं पैदा किया । पर मित्रताका प्रकाश तब होता है जब इसकी इच्छा करनेवाला, पहिले अपनेसे आरंभ करे ।

(७) दृते दृꣳह मा ज्योक्ते संदृशि जीव्यासं ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ॥ १२९ ॥　　०—१६ ॥

अर्थः—(दृते) हे दुःखविदारक प्रभो, (मा) मुझे (दृंहं) पक्का करो, (ज्योक्) सदा (ते) तेरी (संदृशि) (प्रेमभरी) दृष्टिमें (जीव्यासं) जिऊँ, (ज्योक्) सदा (ते) तेरी (संदृशि) (प्रेमभरी) दृष्टिमें (जीव्यासं) जिऊँ ॥ ७ ॥

प्यारो, भगवान्‌के पास होनेका अनुभव बड़ा सहारा है। पापीको भय होता होगा। पर, जिसने पाप छोड़कर, ऊपर उठनेका व्रत ग्रहण कियाहो, उसके लिये प्रभुकी समीपतासे बढ़कर और बातहोही क्या सकती है? वही उसका लक्ष्य है। उसेही ढूंढता २ वह यहांतक आया है। अब वह यही चाहता है कि प्रभु उसको सदा अपनी देख रेखमें रखें।

(८) मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः। घर्मस्त्रिशुग्विराजति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह ॥ १३० ॥ यजु० ३८। २७॥

अर्थ:—(मयि) मेरे अन्दर (त्यत) वह (बृहत्) बड़ी (इन्द्रियं) इन्द्रिय-शक्ति [है], (मयि) मेरे अन्दर (दक्षः) बल (मयि) मेरे अन्दर (क्रतु) बुद्धि तथा कर्म [है], (विराजा) प्रकाशात्मक (ज्योतिषा) ज्योतिके (सह) साथ (ब्रह्मणा) ब्रह्म [के] (तेजसा) तेजके (सह) साथ (त्रि-शुक्) तीन तरहके प्रकाशसे युक्त [जीवनकी] (घर्मः) गरमी [मेरे अन्दर] (विराजाति) चमकती है ॥ ८ ॥

प्यारो, शारीरिक, मानसिक और आत्मिक प्रकाशसे युक्त जीवनको धारण करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये। इसके विना यही समझो कि भट्टीमें कोइला जल रहा है। वह गरमी जड़ है। जीवनकी गरमीका स्वरूप सर्व प्रकारके प्रकाशसे युक्त होना चाहिये। आत्मिक और मानसिक प्रकाशके विना जीवनकी गरमी अनुचित राग, द्वेष और क्रोध आदिमें नष्ट होती है। इस प्रकाशसे प्रकाशित होकर प्रभु-भक्तिकी मिठाससे

पूर्ण होकर शान्तिका विस्तार करनेवाली होसकती है। प्रत्येक साधकको आत्म-विश्वासके साथ, इस प्रकारके पूर्ण जीवनको अपने अन्दर अनुभव करनेका सामर्थ्य बढ़ाना चाहिये। उसके शारीरिक जीवनकी जब पूर्णाहुति होनेवाली हो, तो वह अपने भगवान्‌के सामने खड़ा होकर यह कह सके।

(९) अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधि।
इदमहं य एवाऽस्मि सोऽस्मि ॥ १३१ ॥ यजु० २। २८।

अर्थः—(अग्ने) हे सर्वज्ञ (व्रतपते) व्रतोंके रक्षक, [मैने] (व्रतं) व्रतको (अचारिषं) धारण किया है, [मैं] (तद्) उसे (अशकं) पाल सका हूं, (तत्) वह (अराधि) सिद्ध होचुका है। (इदं) यह (अहं) मैं (यः) जो (एव) कुच्छ (अस्मि) हूं (सः) वह (अस्मि) [सेवामें उपस्थित] हूं [स्वीकार करो, स्वीकार करो] ॥ ९ ॥

सज्जनो, इस प्रसंगमें अब मैं और क्या कहूं। जीवनकी पराकाष्ठा पहुंच चुकी है। साधकका व्रत और तप सिद्ध होचुका है। अब वह जिस ज्योतिकी तलाशमें निकला था, अब वह दिन रात उसके अन्दर और बाहिर प्रकाश कर रही है। लम्बी यात्राकी थकावट दूर होचुकी। मार्गकी धूली उड़ चुकी। चारों ओर शान्ति ही शान्ति है। सहस्रों वर्षोंसे बिछड़े हुए मित्र पुनः गले लग रहे हैं। अब मानस-सरोवर प्रेम और आनन्दसे उमड़ रहा है। अब सरस्वतीकी मधुर वीणा हृदयको मोहित कर रही है। धन्य हैं वे सज्जन, जो इस मार्गपर चलनेमें रुचि रखते हैं। सर्व साधारणको यह नहीं भाता।

आरम्भमें यह विकट और कठिन है। पर, प्यारो, परिणाम कितना मधुर है! यही देवताओं और साधारण लोगोंमें भेद है। देवता तुरन्त फलको प्राप्त न करके घबराते नहीं। सत्य, असत्यका विवेक करके, सत्यके मार्गपर वे शान्तिसे चले चलते हैं। समय आता है जब उनकी झोली मीठेसे मीठे फलोंसे भर जाती है। प्यारो, जो कुच्छ स्थूल आंखोंसे दिखाई देता है, उससे असंख्य गुणा वह जगत् है, जो दिखाई नहीं देता। आत्मिक आनन्द और विकास प्राप्त होनेपर ही ठीक स्वरूपमें अनुभव होसकते हैं। हां, वेद भगवान् इस अनुभवका मार्ग पूर्णतया बताता है। जो श्रद्धापूर्वक इसपर चलेगा, उसकेलिये सुनहरी द्वार खुल जावेगा। प्यारो, आजके प्रकरणके साथ मानस अध्याय समाप्त होता है। पहिली वार आप जीवके स्वरूप तथा उसके प्रभुके साथ सम्बन्धको समझ चुके हैं। शरीरके विषयमें भी वेद भगवान्का सन्देश सुन चुके हैं। इस वार अन्तःकरणके स्वरूप, सरस्वती-जागरण, ज्ञानकी विशेषता, आन्तरिक शुद्धि, पुनरुद्धार, आदर्श जीवन-नीति तथा इन सबके यथार्थ साधनोंके विषयमें आपने बड़ी रुचिके साथ उपदेश सुना है। आशा है, आप इन बातोंसे लाभ उठा रहे होंगे।

लोक०—महाराज, जब मेरी काया-पलट होरही है, तो इसमें कोई सन्देह ही नहीं।

सत्य०—भगवन्, इस प्रकारसे आपने एक व्यक्तिको लेकर उसकी पूर्णताका चित्र खींच दिया है।

महा०—हां, मेरा यही अभिप्राय था। तत्त्वसन्देश, शरीरसन्देश और मानससन्देश मिलकर हमारे सामने हमारे स्वरूप, आदर्श और उसकी प्राप्तिके मार्गको पूर्णतया रख देते हैं। यह वेद भगवान्‌की महिमा है, कि उसमें इतना पूर्ण वर्णन है।

वस्तु०—आपकी बातसे कुच्छ ऐसा प्रतीत होता है कि अब आप हमसे यह आत्मिक आनन्द छीनना चाहते हैं।

महा०—प्यारे, इतना सुनकर भी ऐसा क्यों कहते हो? अब यह आनन्द तुम्हारा हो चुका। इसे कोई छीन नहीं सकता। मेरा विचार कुच्छ दिनकेलिये हरद्वारके कुम्भपर जानेका है। वहांसे वापिस आकर फिर आपके सामने दूसरे प्रकरणका आरम्भ करूंगा।

माया०—महाराज, कब प्रस्थान करेंगे? मेरा भी आपकी सेवामें चलनेका विचार है।

सत्य०—बस, अब तय्यारी ही है। वैशाखीसे दो तीन सप्ताह पूर्व तो वहां पहुंचना ही चाहिये।

महा०—बहुत अच्छा, सज्जनो, तब तक आपने जो कुच्छ सुना है, इसे सफल करते रहो। प्रभुने चाहा, तो फिर इसी प्रकार कुच्छ दिन और वेद भगवान्‌के पवित्र सन्देशको सुनें सुनावेंगे।

इति वेदसन्देशे तृतीयोऽध्यायो द्वितीयो भागश्च समाप्तः।

—:-o-:—

वैदिकाश्रम-ग्रन्थमाला लाहौर

१. इस मालाका उद्देश्य वैदिकधर्मके प्रचारार्थ सरल और स्थायी साहित्यका प्रकाश करना है।

२. स्थायी ग्राहक बननेका शुल्क ॥) है।

३. स्थायी ग्राहकोंको प्रत्येकपुस्तक पौने मूल्यपर मिलेगी। पुस्तक निकलनेपर सूचना दीजावेगी।

इस मालाका प्रथम पुष्प—

वेद-संदेश प्रथम भाग।

दूसरा कुम्भ संस्करण तय्यार है। सुनहरी जिल्द मूल्य १॥)

दूसरा पुष्प—

देवयज्ञ-प्रदीपिका।

कर्मकाण्डकी आधिभौतिक और आध्यात्मिक विवेचना, तथा मंत्रोंके सरल अर्थ। सुनहरी जिल्द मूल्य १।) कई और उत्तम ग्रन्थ शीघ्र छपनेवाले हैं। स्थायी ग्राहक बनें और अमृत पान करें।

पत्र व्यवहारका पता—

मैनेजर वैदिकाश्रम-ग्रन्थमाला

दयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय,

लाहौर।